* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *
कल्याण
वर्ष ६५
संख्या ११
J.N. Prasad

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, वि० सं० २०४८, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१७

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.५० रु० विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ५५.००रु० विदेशमें ५ पौंड अथवा ८ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

रामके वियोगमें कौसल्या

बार-बार उर-नैननि लावति प्रभुजूकी ललित पनहियाँ ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥

वर्ष ६५ | गोरखपुर, वि॰सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१७ | संख्या ११ पूर्ण संख्या ७८०

रामके वियोगमें कौशल्या

जननी निरखति बान-धनुहियाँ ।
बार-बार उर-नैननि लावति प्रभुजूकी ललित पनहियाँ ॥
कबहूँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सवारे ।
उठहु तात ! बलि मातु बदनपर, अनुज-सखा सब द्वारे ॥
कबहुँ कहति यों, बड़ी बार भइ, जाहु भूप पहँ, भैया ।
बंधु बोलि जेंइय जो भावै, गई निछावरि मैया ॥
कबहुँ समुझि बन-गवन रामको रहि चकि चित्र लिखी-सी ।
तुलसिदास वह समय कहेतें लागति प्रीति सिखी-सी ॥

—गीतावली

कल्याण

याद रखो—जबतक शरीर, नाम और संसारके प्राणि-पदार्थोंमें 'अहंता' और 'ममता'—'मैं' और 'मेरा'पन है, तबतक तुम कभी सुखी नहीं हो सकते, क्योंकि शरीर, नाम तथा संसारके प्राणिपदार्थ सभी अपूर्ण हैं और क्षणभङ्गुर हैं एवं अपूर्ण तथा क्षणभङ्गुर वस्तुसे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसमें अपूर्णताको पूर्ण करनेकी वासना तथा प्राप्त वस्तुके विनाशकी आशंकाका दुःख नित्य बना रहता है।

याद रखो—जबतक शरीरमें 'मैं'-पन तथा संसारके प्राणिपदार्थोंमें 'मेरा'पन है, तबतक तुम्हारी मलिन दीनता और तुम्हारा मलिन अभिमान—दोनों ही सदा तुम्हारे अंदर रहेंगे और तुम्हें अशान्त तथा दुःखी बनाते रहेंगे। जैसे महान् आकाशमें दीवाल तथा छत बन जानेसे आकाशका वह घिरा हुआ अंश कोई कमरा बन जाता है और वह किसीसे छोटा तथा किसीसे बड़ा हो जाता है। जहाँ छोटा है वहाँ उसमें अपनेको छोटा मानकर दूसरे बड़ोंके सामने दीन होना पड़ता है और जहाँ बड़ा है वहाँ उसमें अपनेको दूसरोंसे बड़ा मानकर अभिमान आ जाता है। संसारके प्राणिपदार्थ भी, चाहे कितने ही किसीकी 'ममता' की वस्तु बने हुए हों, वे दूसरोंसे किसीसे कम और किसीसे अधिक होंगे ही। इसलिये उनको लेकर भी दीनता और अभिमान बने रहेंगे, जो हीनता, ईर्ष्या, द्वेष, मद, गर्व, परापमान, पर-निन्दाके रूपमें परिणत होते हुए नये-नये दुःखोंको उत्पन्न करते रहेंगे।

याद रखो—जबतक शरीरमें अहंता और प्राणिपदार्थोंमें ममता है, तबतक संसारके बन्धनसे कभी मुक्ति नहीं मिलेगी। नये-नये शरीरोंकी प्राप्ति और ममताकी वस्तुओंका संयोग-वियोग बना ही रहेगा और इसलिये तुम आत्यन्तिक सुखसे सदा वञ्चित ही रहोगे।

याद रखो—दुःखोंके आत्यन्तिक नाश तथा नित्य और आत्यन्तिक अभिन्न ब्रह्म-सुखका साक्षात्कार करनेके लिये तुमको मानव-शरीर मिला है, इससे अवसर रहते ही लाभ उठाना चाहिये। इसलिये तुम या तो शरीरको जड, उपाधिरूप, अनित्य, विनाशी और असत् मानकर उसमेंसे 'मैं'पन हटा लो और प्राणिपदार्थोंको मायाकल्पित, स्वप्नदृश्यके सदृश मानकर ममताका आधार ही नष्ट कर दो। 'अहं'को नित्य, सत्य, सहज, अविनाशी, त्रिकालाबाधित, परम तत्त्व आत्मामें या ब्रह्ममें स्थापित कर दो, जैसे कमरेका छोटा आकाश—अपने पृथक् तथा छोटेपनके मिथ्या ज्ञानको हटाकर विचारके द्वारा महाकाशमें अहंताका सत्य साक्षात्कार कर उसमें एकत्वको प्राप्त हो जाता है। वैसे ही तुम भी अपने पृथक् जीवभावका आधार मिथ्या ज्ञान मानकर उससे छूट जाओ और सदा अभिन्न एकमात्र नित्य शुद्ध-बुद्ध-आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाओ और संसारके तमाम प्राणिपदार्थोंका भी उसी स्वरूपमें साक्षात्कार करो। ऐसा होनेपर तुम मिथ्या अहंता-ममतासे मुक्त होकर अपने नित्य सत्य स्वरूपभूत पूर्ण, अखण्ड, असीम ज्ञान और चेतनस्वरूप आत्मानन्दका साक्षात्कार कर सकोगे—स्वयं अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्वरूपभूत बन जाओगे।

याद रखो—इसी प्रकार तुम अपनी अहंताको भगवान्के अनन्य दासत्वमें और ममताको एकमात्र भगवान्के मङ्गलमय चरणारविन्दमें केन्द्रित करके कृतार्थ हो जाओ। यह निश्चय कर लो कि एकमात्र भगवान् तुम्हारे नित्य सत्य सुहृद् स्वामी हैं, उनके मधुर मनोहर चरण-सरोज ही एकमात्र तुम्हारी ममताकी वस्तु हैं और उनका बिना किसी बदलेकी इच्छाके, बिना किसी शर्तके सहज सोल्लास सेवन ही तुम्हारे जीवनका स्वभाव है। ऐसा कर सकोगे तो अपूर्ण तथा विनाशी शरीर, नाम एवं प्राणिपदार्थोंसे परे नित्य-सत्य-पूर्ण अनन्त-सुखमय भगवान्का सेवन करनेसे तुम आत्यन्तिक सुखको प्राप्त कर सकोगे।

याद रखो—फिर तुम्हारी सांसारिक वस्तुओंके अभावसे उत्पन्न मलिन दीनता नष्ट हो जायगी और क्षणभङ्गुर पदार्थोंकी प्राप्तिसे उत्पन्न तुम्हारा मलिन अभिमान मिट जायगा। तुम्हारे अंदर दिव्य दैन्यका प्रादुर्भाव होगा, जो तुमको सर्वथा अकिंचन बनाकर भगवान्का प्रिय बना देगा और वह दिव्य अभिमान प्रकट हो जायगा, जो तुम्हें भौतिक जरा-मरणसे मुक्त करके अपने परम सुहृद् सेवकवत्सल सर्वलोकमहेश्वर भगवान्के सेवकके—पार्षदके पदपर नित्य प्रतिष्ठित कर रखेगा।

—'शिव'

भगवान्‌की दयाका रहस्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन)

ईश्वरकी यह बड़ी भारी कृपा है कि उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम जाति, उत्तम धर्ममें अपना जन्म हुआ, किंतु इन सबसे बढ़कर यह बात है कि अपना समय भगवच्चर्चामें व्यतीत हुआ। इसी प्रकार भविष्यमें आनेवाला समय यदि उत्तम कार्योंमें व्यतीत हो तो भगवान्‌की दया समझनी चाहिये और बुरे कार्योंमें बीते तो अपने स्वभावका दोष समझना चाहिये। दोनों ही बातें प्रारब्धपर निर्भर नहीं हैं। अपने द्वारा कोई खराब क्रिया हो तो उसे अपने स्वभावका दोष समझना चाहिये और अपने द्वारा बढ़िया क्रिया हो तो उसे भगवत्कृपा समझनी चाहिये। भगवान्‌की कृपाका फल परम कल्याणकारक और अपने स्वभावकी क्रियाका फल दुःखरूप है। किंतु भगवान्‌की कृपासे वह भी माफ हो जाता है, यह सिद्धान्त समझना चाहिये। अपने द्वारा कोई भी यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, सेवा, उपकार या भगवान्‌का भजन-ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय इत्यादि हो तो उसे भगवान्‌की कृपा ही समझनी चाहिये। भगवान् ही हमें संसारके बुरे कार्योंसे हटाकर अच्छे कार्योंमें लगाते हैं। झूठ, कपट, चोरी, डकैती, बेईमानी आदि कोई भी बुरा काम हो तो उसे अपने स्वभावका दोष मानना चाहिये। कुसंगका असर महात्माओंपर नहीं पड़ता। अतः इसे अपने स्वभावका ही दोष समझना चाहिये। दूसरे आदमीके माथे चाहे मढ़ दो कि कुसंगीका साथ होनेसे मेरेमें यह खराबी आयी पर वह खराबी आपने स्वीकार की तभी आयी बलात् नहीं आयी। अतः कुसंगका त्याग तो करना ही चाहिये, उसके पास नहीं जाना चाहिये, बल्कि उसका नाम ही नहीं लेना चाहिये। कुसंगसे हानि ही होती है। सत्संगसे लाभ है। अतः अपने लोगोंको सत्संग ही करना चाहिये।

सत्संग भगवान्‌की दयासे ही मिलता है। सत्संगसे जो लाभ है वह उनकी दयासे ही है। सत्संग ईश्वरकी वह कृपा है जो परम लाभ पहुँचाती है, उसकी कोई सीमा नहीं। लाभ उठानेवालोंपर यह बात निर्भर करती है। उसकी दयाको हम लोग जितनी समझते हैं वह थोड़ी है। भगवान्‌की दयाकी कोई सीमा नहीं है, अपरिमित है। हमलोगोंको उसकी जो दया समझमें आती है वह सीमित है। किंतु अपने ऊपर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक भगवान्‌की दया समझें तो शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये हर एक लीलामें, हर बातमें, हर समयमें दया देखें और उसे देखते-देखते इतना मुग्ध हो जायँ कि भगवान् ही आकर चेत करावें। जबतक भगवान्‌के साक्षात् दर्शन नहीं हो तबतक यह समझें कि हम लोगोंने भगवान्‌की पूरी दया समझी ही नहीं।

क्योंकि भगवान्‌की जो अपरिमित दया है, उसका तत्त्व-रहस्य समझ लें तो उसी वक्त भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। यदि भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब हो रहा है तो यही समझना चाहिये कि उसकी दयाको ठीकसे समझे ही नहीं। जिधर अपनी दृष्टि जाय चारों तरफ दया-ही-दया दृष्टिगोचर हो, दयाका एक सागर भरा है, आप उस सागरमें डुबे हुए हैं। इस सागरका तो किनारा है। भगवान्‌की दयाके सागरमें दयाका किनारा नहीं है। भगवान्‌की दयाको देख-देखकर मनुष्य हँसता ही रहे। हँसते-हँसते ही मर जाय तो कितने आनन्दकी बात है और उससे बढ़कर क्या है? अतः दयाके सागरमें डूब जाय संसारके सागरमें नहीं। दयाके सागरमें अपनेको डुबोकर रखे। भगवान्‌ने सूर्यद्वारा प्रकाश, बादलोंद्वारा जल तथा पर्याप्त हवा जीवन चलानेके लिये दिया है। जिसका कोई मूल्य नहीं देना पड़ता और उस प्रकाश, जल तथा हवाके समान प्रकाश, जल तथा हवा लाखों रुपये खर्च करनेपर भी नहीं प्राप्त हो सकती। पर भगवान्‌ने मुफ्त दिया है, यह उनकी कितनी बड़ी दया है। इससे भी बढ़कर दया है कि भगवान्‌ने हमलोगोंको स्त्री, पुत्र, धन, मकान, शरीरमें बल-बुद्धि-ज्ञान आदि सब कुछ दिया है। ये सब वस्तुएँ दी हैं परमात्माकी प्राप्तिके लिये। यह तो भगवान्‌की दया है ही कि उन्होंने हमको यह चीजें दीं, किंतु इससे भी बढ़कर दया है जब प्रतिकूल परिस्थिति पैदा कर देते हैं अथवा हमें दुःख-क्लेश इत्यादि देते हैं अर्थात् भगवान् हमसे ये चीजें लेते हैं, जैसे स्त्री मर गयी, पुत्र मर गया, धनका नाश हो गया, बीमारी हो गयी। एक भक्तने कहा है—

सुख के माथे सिल पड़े जो नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की जो पल पल नाम रटाय॥

जिस सुखके मिलनेपर हम भगवान्‌को भूल जायँ उस

सुखके माथेपर पत्थर पड़े और उस दुःखकी बलिहारी है, वह दुःख धन्य है जिसमें क्षण-क्षणमें भगवान्‌के नामकी याद आये। संसारमें भगवान् दुःखमें ही याद आते हैं। किसी भक्तने कहा है

दुखमें सुमिरन सब करें सुखमें करे न कोय।
जो सुखमें सुमिरन करे तो दुख काहे को होय॥

दुःखमें सभी भगवान्‌को याद करते हैं, पर सुखमें कोई नहीं याद करता। यदि सुखमें भजन करे तो दुःख हो ही क्यों? अच्छा तो दुःख ही है जो भगवान्‌का सुमिरन करानेवाला है। इसी प्रकार हमारे शरीरमें ज्वर हो जाय या कोई बीमारी हो जाय और उसमें भगवान् याद आवें तो वह बीमारी हमारे लिये बहुत ही लाभदायक है। संसारकी कोई भी विपत्ति आये तो भगवान्‌की विशेष दया समझनी चाहिये; क्योंकि जब हमें बीमारी होती है तो पापका जो फल है दुःख, उसको भोग लेनेसे पाप मिट जाता है और हम पवित्र हो जाते हैं। हमको शुद्ध बनानेके लिये भगवान् ये सब बीमारी देते हैं। भीष्मजीने भगवान्‌से प्रार्थना की कि हमने जितने पाप किये हैं, वे सब रोग-रूपमें प्राप्त हो जायँ, और मुझको पापरहित बना दें, शुद्ध बना दें। मैं यह नहीं चाहता कि दुःख भोगनेके लिये मुझको पुनः जन्म लेना पड़े। एक और आनन्दकी बात यह है कि अपनेको बीमारी हो गयी, बुखार हो गया तो हम उसको तप समझ लेवें, तप समझ करके उसका आदर करें तो परम तपका जो फल है वह प्राप्त होता है, यह लाभ है। और दुःखकी प्राप्ति होनेपर निरन्तर यह बात याद आती है कि मैंने जो पाप किये थे, उसके फलस्वरूप यह दुःख भोग रहा हूँ। तो इससे यह धारणा बनेगी कि पाप नहीं करना चाहिये। भगवान्‌की स्मृतिमें दुःख प्रधान हेतु होता है, अतः दुःखको सुखसे बढ़कर समझना चाहिये। अतः विपत्तिमें भगवान्‌की विशेष दया समझें। यह अलग बात है कि किसी-किसी समयमें भगवान्‌की याद सभीको आती है। यदि याद नहीं आते तो आप क्या करते, कुछ भी नहीं करते। तो यह भगवान्‌की विशेष दया है। समय-समयपर भगवान् आपको विशेष याद आ जाते हैं, याद आनेके बादमें उनको भुला देना, छोड़ देना यही हमारी मूर्खता है, अन्यथा उन्हें भुलावे क्यों? स्वाभाविक ही कभी भगवान् याद आ जाते हैं यह भगवान्‌की प्रत्यक्ष दया है। यदि भगवान् नहीं याद आते तो हमारा क्या जोर था। तो हर एक विषयकी प्राप्तिमें, हर एक विषयमें भगवान्‌की दयाका दिग्दर्शन करना चाहिये। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो मुझको सब जगह देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं अलग नहीं होता और वह मुझसे अलग नहीं होता।' इस प्रकार देखनेका जो ज्ञान है वह परमात्मासे ही होता है। तो हर समय हमारी यह बुद्धि हो कि हम सर्वत्र भगवान्‌को देखें और सबको भगवान्‌में देखें। इससे हमें अधिकाधिक प्रसन्नता और शान्ति मिलती है। कीर्तन करते-करते प्रेममें मूर्च्छित हो जाय, अपने-आपको भूल जाय, कीर्तनके सिवा किसी बातका ज्ञान नहीं रहे। भाव बढ़ते-बढ़ते बढ़ जाय तो भगवान् तुरंत प्रकट हो जावें। जैसे द्रौपदीने एक ही बार सकाम-भावसे एक आवाज लगायी तो भगवान् वहाँ तुरंत आ गये। इसी प्रकारसे भाव, दया, नाम-जप और प्रेमकी भी बात है। प्रेम बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाय कि वह एकदम अपने-आपको भूल जाय, मूर्च्छित हो जाय। प्रेममें तो भगवान् उसी समय प्रकट हो जायँ। सत्संगकी शास्त्रोंमें मुक्तिसे बढ़कर महिमा बतलायी है। अपने भाग्यके भरोसे बैठा रहे तो कोई भाग्यसे तो मिलते नहीं हैं, वे तो भगवत्कृपासे मिलते हैं, प्रेमसे मिलते हैं। प्रेम, श्रद्धाकी अपनेमें कमी है तो अपने दयाके पात्र हैं। भगवान् दयासे ही मिलते हैं तो भगवान्‌के आगे रोना चाहिये, स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। हृदयसे रोकर प्रार्थना होती है, उसकी सुनवायी भगवान् अधिक करते हैं। करुणासे रोये और हृदयसे नहीं रोये तो भगवान्‌के आनेमें विलम्ब हो सकता है। जैसे एक लड़का है जो माँको पुकारता है, माँ-माँ कहकर रोता है। माँ उसकी बातपर ध्यान नहीं देती। दूसरी स्त्रीने कहा— 'तेरा बेटा इतनी देरसे रो रहा है और तू उसकी तरफ ध्यान ही नहीं देती है, कितनी देरसे रो रहा है। इसके दुःखकी तरफ तो खयाल कर।' माँ कहती है कि 'यह झूठे रो रहा है। देखो, आँसू तो एक भी नहीं आ रहा है।' इस प्रकार बनावटी रोनेका असर जैसे माँपर नहीं पड़ता, उसी प्रकार अपने रोनेका कोई विशेष असर नहीं पड़ता है, क्योंकि अपना

रोना हृदयसे नहीं है। हृदयका जो उद्‌गार है, हृदयका जो करुणा-भाव है, उससे अगर भगवान्‌के आगे रोयें तो भगवान्‌को बाध्य होकर आना पड़े। अतः हृदयके भावको बढ़ाना चाहिये। भगवान्‌से रोनेके लिये हृदयकी व्याकुलता इतनी बढ़ जाये कि हम भगवान्‌के वियोगको बर्दाश्त नहीं कर सकें। हमारेमें योग्यता नहीं, गुण नहीं, आदर नहीं, भक्ति नहीं, वैराग्य नहीं, ज्ञान नहीं, कुछ भी नहीं हो, केवल भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा हो तो भगवान् यह नहीं देखते कि यह पात्र है या अपात्र है।

एक धनी और दयालु आदमी है। वह मिठाई खा रहा है। एक गरीब आदमी आ करके बैठ जाय और कहे कि मुझे भी जलेबी दो।थोड़ी दयावाला उसको भी जलेबी दे देता है और उसे खाकर वह प्रसन्न हो जाता है क्योंकि इससे पहले उसने कभी जलेबी नहीं खायी थी। उसकी प्रसन्नताको देखकर दाताके मनमें भी बड़ी प्रसन्नता होती है। तो भगवान् बड़े उच्चकोटिके दाता हैं। हम कुछ भी न चाहकर अपनेको अपात्र समझते हुए एकमात्र प्रभुके दर्शनकी इच्छा करें। भगवान् देखते हैं कि भाई, जब इसकी उत्कट इच्छा है तो दर्शन दे ही दो। पात्रको तो जलेबी पैसा देनेपर बाजारमें हलवाईकी दूकानसे मिल ही जाती है और पैसेके अभावमें भी जलेबी खानेकी इच्छा हो तो उसको भी जलेबी मिल जाती है। जलेबीके लिये आतुर होकर किसीसे कहे—'बाबू! हमने कभी भी जलेबी नहीं खायी, हमें एक जलेबी दिला दो।' तो किसी-न-किसीके मनमें दया आ ही जाती है और वह दिला देता है। तो हमलोगोंके हृदयमें जो दया है वह मामूली दया है। दया-सागर जो भगवान् हैं वे पात्रताको देखते नहीं। यदि वे समझ लेवें कि इसको दर्शनोंकी इच्छा है तो मेरा कर्तव्य है इसको दर्शन देना। हमें भगवान्‌के विरद, दया और स्वभावकी तरफ देखकर दर्शनकी इच्छा करनी चाहिये तो हम अपात्र होते हुए भी पात्र हो जाते हैं। भगवान्‌का स्वभाव कोमल है, वे बड़े दयालु हैं, वे अपने दासोंके दुःखको देखकर बिना प्रकट हुए रह ही नहीं सकते। वे दोषोंको तो देखते ही नहीं। इस प्रकार हम भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझकर उस दयाके बलपर दर्शन कर सकते हैं। हम अपात्र हैं इसलिये दूर हैं, यह अपनी ही समझकी कमी है। हम लोग, हर एक भाई खयाल करके अपनी तरफ देखें तो जो कुछ भी हम भगवान्‌की दयाका लाभ उठा रहे हैं ये ही असम्भव-सी बात है। क्योंकि कहाँ तो हम लोग और कहाँ भगवान्। रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें श्रीभरतजी कहते हैं—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥

'हे नाथ! यदि आप मेरी करनीकी तरफ ख्याल करके देखो तो सौ करोड़ कल्पोंतक भी मेरा उद्धार होना सम्भव नहीं है।'

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

आप अपने दासोंके दोषोंकी तरफ नहीं देखते हैं, आपका स्वभाव बड़ा कोमल है। आप दीनोंके बन्धु हैं और मैं दीन हूँ। इससे हमें विश्वास होता है कि भगवान् हमें मिलेंगे । इसी प्रकारसे हम लोग भी अपने मनमें समझ लें तो जो बात भरतके लिये थी, वही हमारे लिये है। भरतसे ज्यादा हमारे अपराध हो सकते हैं; किंतु ज्यादा कितने ही हों, जहाँ सूर्यका प्रकाश होता है वहाँ थोड़ा या ज्यादा अन्धकारका खयाल थोड़े ही किया जाता है, वहाँ तो चाहे जितना भी अन्धकार हो सब भाग जाता है। हर एक भाई अपने ऊपर विचार करके देखें, हम अपनेपर विचार करके देखते हैं कि देखो हम कितने नीचे दर्जेके हैं, दूसरी तरफ भगवान्‌की दयाकी तरफ देखते हैं तो हमको आश्चर्य होता है कि हमारे-जैसे पुरुषपर भी भगवान्‌की दया हो सकती है, तो दूसरोंपर दया हो तो बात ही क्या है। हम जो आपको शास्त्रोंकी इतनी बातें सुनाते हैं तो यह एक प्रकारसे हमारी कोई पैतृक सम्पत्ति है क्या? हमारी कोई कमाई है या कोई हमारी पूँजी है, तो केवल भगवान्‌की दयाके सिवा और दूसरी बात ही क्या है। मेरेसे भी नीची श्रेणीके लोग संसारमें हैं, वे भी परमात्माकी दयाके प्रभावसे ब्रह्माकी पदवीतक पहुँच सकते हैं। किंतु भगवान्‌की दयाके प्रभावको अपने ऊपर समझना और मानना चाहिये। मैं तो माननेवालोंमें नहीं हूँ, बल्कि मैं भगवान्‌की दयाके प्रभावको न जाननेवालोंमें हूँ। उनकी दयाका जो प्रभाव है, तत्त्व है, रहस्य है उसको मैं न जाननेवाला और न माननेवाला हूँ तो ऐसे आदमीपर भी भगवान् दया कर रहे हैं फिर जो अपने ऊपर दया समझे, जाने, माने, उसका तो क्या ठिकाना है। इसलिये बात मैं कहता हूँ कि जो अपने ऊपर भगवान्‌की दया समझे, उसपर भगवान्‌की

दया उस समझसे भी बहुत ज्यादा है। क्योंकि मैं अपने ऊपर घटा करके देखता हूँ कि भगवान्‌की जो दया है उनका जो तत्त्व-रहस्य है उसको जो जानता है उसको कितना लाभ होता है, यह वही जाने। किंतु भगवान्‌की दयाका तत्त्व-रहस्य नहीं जाननेवाला, नहीं समझनेवाला, नहीं माननेवाला जो व्यक्ति है उसके ऊपर भी भगवान्‌की इतनी अपार—अपरिमित दया है तो दूसरोंके ऊपर यानी माननेवालेपर हो तो उचित न्याय ही है। इसलिये यह बात कही जाती है कि अपात्रपर भी भगवान्‌की दया होती है।

हर एक मनुष्यको यह समझना चाहिये कि मेरे ऊपर भगवान्‌की सबसे ज्यादा दया है, पात्र तो हूँ नहीं किंतु दया सबसे ज्यादा है। इस बातको मान लेनेसे फिर उसको चारों तरफ दया-ही-दया दीखने लगती है। मानो वह दयाके सागरमें डूबा हुआ है। जब वह एक प्रकारसे दयाका अनुभव करता है तो उसको सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होने लगते हैं, हर समय भगवान्‌की लीला होती-सी उसको दीखती है। वस्तु—पदार्थमात्रमें उसको भगवान्‌का स्वरूप दीखता है और जड़-चेतनके द्वारा होनेवाली उसकी क्रिया—लीला दीखती है। ये जो अपने भगवान्‌की लीला कराते हैं—रामलीला, कृष्णलीला यह तो कृत्रिम है, यह तो बनावटी है किंतु उसको जो दीखती है, वह असली है। उसको तो हर समय भगवान्‌की लीला दीखती है। संसारमें हवा चल रही है या मन, इन्द्रियों और शरीरके अनुकूल अथवा प्रतिकूल जो कुछ क्रिया हो रही है उसको भगवान्‌की लीला ही दीख रही है। आप खयाल करके देखिये, लोग सिनेमा देखने जाते हैं, उसमें उनको तमाशे दीखते हैं और वे बिलकुल झूठे हैं। झूठे हैं और दूसरी तरफ सिनेमाके खेल भी हैं, यह बुद्धि भी है तो भी उसे देखकर खुश होते हैं, तभी तो बार-बार देखने जाते हैं। नहीं तो क्यों जावें, वह जो सिनेमाका खेल-तमाशा है, बनावटी है और मनुष्य-कृत है। उसको देखना मूर्खता है और भगवान्‌की तरफसे जो तमाशा हो रहा है, उस तमाशेके मुकाबलेमें और कोई तमाशा है ही नहीं।

भगवान् प्रकट होकर यदि लीला करें और उनको हम भगवान् समझ लेवें तो उस समय उनकी लीलाको देख-देखकर हमको प्रसन्नता होनी चाहिये। यही भगवान् तो कृष्णावतारमें लीला करते थे। तो भगवान्‌की प्रत्येक क्रिया गोपियोंके लिये लीलारूप थी और जिनकी भगवान्‌में श्रद्धा नहीं थी, उनके लिये वह लीला नहीं थी। जब ब्रह्माजी भगवान्‌को भगवान् नहीं समझे तो भगवान्‌की बाल-लीला उनके लिये लीला नहीं थी। यदि वे समझते कि भगवान् लीला कर रहे हैं तो ग्वाल-बालों और बछड़ोंको ले जाकर एक गुफामें क्यों रखते। उनकी बुद्धिमें भ्रम हो गया था। ग्वाल-बाल उस लीलाको लीला समझते थे और गोपियाँ उससे भी बढ़कर समझती थीं। घरके द्वारपर सब खड़ी रहतीं कि भगवान् इधरसे होकर निकलेंगे। भगवान् गायोंके बछड़ोंके पीछे-पीछे चल रहे हैं। उन बछड़ोंके खुरकी धूल उड़कर भगवान्‌के शरीरपर पड़ती तो भगवान् धूलधूसरित हो जाते, सारे बदनपर धूल-ही-धूल भर जाती। सूक्ष्म धूल जिसे मिट्टी कहते हैं भगवान्‌के शरीरपर छा जाती है। ऐसे भगवान्‌के धूलधूसरित स्वरूपको देख करके गोपियाँ प्रसन्न हो रही हैं। यदि सारे शरीरपर धूल पड़नेसे सुन्दरताकी महत्ता हो तो दूसरे लोग अपने ऊपर धूल गिरा करके महत्ता पा लेते, किंतु उससे कोई प्रसन्नता नहीं होती, वह तो गोपियोंका भाव था कि भगवान् किसी भी रूपमें, किसी भी प्रकारसे उनको भगवान् दीखते थे और उनकी प्रत्येक चेष्टा लीलारूपमें दीखती थी। भगवान् एक रूपमें हो करके चेष्टा करते हैं, तो उनकी क्रिया लीला दीखती थी। भगवान्‌ने अनेक रूप धारण कर लिये ग्वालबालों तथा बछड़ोंके रूपमें। लीलाका विस्तार हो गया तो उन भगवान्‌के स्वरूपोंके द्वारा जो भी चेष्टा होती थी समझनेवाले लोगोंके लिये वह सब भगवान्‌की लीला होती थी। जो नहीं समझते उनके लिये कुछ भी नहीं। तो जो मनुष्य इस संसारके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है कि वर्तमानमें जितने संसारके स्वरूप हैं वे सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं और इनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टा भगवान्‌की लीला है तो समझो कि भगवान् श्रीकृष्णजीकी मौजूदगीमें जो उनकी लीला हो रही थी वह थोड़ी दूरमें हो रही थी। सारे ब्रह्माण्डमें जो होती है वह तो उससे भी बढ़कर लीला है। यही भाव (गीता ६। ३१)में इस प्रकार बताया गया है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

सारे भूतोंमें स्थित जो मैं हूँ, ऐसे मुझ परमात्मामें जो एकीभाव हुआ अर्थात् सब जगह मुझ परमात्माके स्वरूपका अनुभव करनेवालोंके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। परमात्माको ही सब जगह देखनेवाला संसारमें जो कुछ कर रहा है, बर्तता है, भगवान् कहते हैं कि वह मेरेमें ही बर्त रहा है, वह तो भगवान्‌के साथ ही लीला कर रहा है और सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर और उनके साथ जो बर्ताव कर रहा है वह बर्ताव भगवान्‌के ही साथ हो रहा है। सबको भगवान् समझ लेनेके बाद जैसा भगवान्‌के साथ व्यवहार होना चाहिये वैसा ही व्यवहार होगा। तो वह सबको भगवान् समझकर और रसास्वाद लेता हुआ आनन्दमें मुग्ध रहेगा और उसकी सारी चेष्टा भगवान्‌के साथ रमण—क्रीडा करनेमें होती है। उनके स्वरूपका अनुभव तो केवल माननेकी बात है, भगवान् सबमें हैं और मैं भगवान्‌के साथ क्रीडा करता हूँ, खेल करता हूँ, मैं रमण करता हूँ; क्रीडा, रमण और खेल—ये तीनों एक ही बात है। उसके आनन्द—शान्तिका क्या ठिकाना, यह आनन्द—शान्ति सबमें मौजूद है। केवल मान लेनेकी बात है। जबतक समझमें न आवे तबतक भगवान्‌के वचनोंको मान लेनेके बाद आगे जाकर वह बात समझमें आ जाती है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

जो पुरुष मुझको सब जगह देखता है और सबको मुझमें देखता है, जैसे बादलोंमें आकाशको देखता है और आकाशके एक अंशमें बादलोंके समूहको देखता है। यह साकारका दृष्टान्त है कि जहाँ नेत्र तथा मन जाय वहीं भगवान्‌को देखे। जैसे गोपियाँ देखा करती थीं। भगवान् उनके नेत्रोंमें बसते थे, उनके हृदयमें बसते थे। इसका मतलब है जो चीज नेत्रोंमें वास करे वही बाहर दीखती है। भले ही वह सूक्ष्म दीखे। इसी प्रकार हम भगवान्‌को अपने नेत्रोंमें, हृदयमें बसा लेवें तो जहाँ भी हमारे नेत्र-मन जायँ वहीं भगवान् दीखें। भगवान् सब जगह हैं ऐसा मान करके देखना शुरू करें तो उसका परिणाम यह होगा कि '**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।**' उसकी दृष्टिसे मैं कभी दूर नहीं होता, वह मुझसे कभी दूर नहीं होता। तो इसका परिणाम होता है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

(गीता ६। ३१)

भगवान् कहते हैं—सब भूतोंमें जो मैं स्थित हूँ, ऐसे मुझ परमात्मामें वह स्थित है। मुझ परमात्मामें स्थित होकर संसारमें अपने शरीरसे बर्तता है तो वह मेरेमें ही बर्तता है। जब यह समझ लेता है कि सारा ब्रह्माण्ड परमात्मामें है, मैं भी परमात्मामें हूँ और परमात्मा सबमें परिपूर्ण है तो ऐसा अनुभव करके वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ परमात्मामें ही तो बर्तता है। सब-के-सब परमात्मामें हैं तो उसका भी तो शरीर परमात्मामें ही है। तो परमात्मामें वह तन्मय हो जाता है, एकीभाव हो जाता है। एकीभाव हो करके वह परमात्मामें स्थित हो करके चेष्टा करता है। अपने-आपको वह परमात्माको समर्पण कर देता है अर्थात् अपने-आपको परमात्मामें मिला देता है। परमात्मामें एकीभाव हो जाता है, परमात्मामें वह रम जाता है और स्वयं उन परमात्मामें तद्रूप होकर चेष्टा करता है। उसकी लीला परमात्मामें ही है, परमात्माके बाहर नहीं। हम लोगोंको जिनको ज्ञान नहीं, वे लोग उनकी चेष्टाको अलग देखते हैं। हमारा देखना व्यर्थ, उसका देखना ठीक, इस प्रकार उसके आनन्द और शान्तिकी क्या सीमा? भगवान्‌के साथमें खेल करता है, जैसे गोपी-ग्वाल भगवान् श्रीकृष्णके साथ खेला करते थे, क्रीडा करते थे; पर वे तो किसी-किसी समय करते थे और यह तो आठों पहर करता है, अतः उस लीलासे यह लीला दामी है—महत्त्वपूर्ण है। (पुराने कैसेटसे संगृहीत)

कीर्ति कभी दीर्घकालतक नहीं ठहरती। सम्मानका बोझ भी ऐसा ही है।

कीर्ति और सम्मानपर काले धब्बे लगते ही हैं। चन्द्रमामें भी कलङ्क होता है। इसलिये कीर्ति-कथा सुनकर घमंड मत करो और निन्दा सुनकर घबराओ मत।

कृष्ण-कल्पतरुका सेवन

(श्रीहित रणछोड़लालजी गोस्वामी)

श्रीहितहरिवंशाचार्य महाप्रभुजीका एक दोहा है—

तनहि राखि सतसंग में, मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण-कलपतरु सेव॥

इसका पहला पद है—

'तनहि'

तन अर्थात् यह शरीर-देह पञ्चभूतोंसे बना है। इसमें वात, पित्त, कफ, मांस, मज्जा इत्यादि भरे हुए हैं। इस प्रकारके गंदे शरीरपर चमड़ी मढ़कर इसे सुन्दर बना दिया गया है। यह शरीर क्या है और उसका विषयोंके साथ क्या सम्बन्ध है, इन सब बातोंका विचार करनेसे इसमेंसे अहंता और ममताकी निवृत्ति हो जाती है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। स्त्री और पुरुषके संयोगसे और उनके रज-वीर्यके सम्मेलनसे जीव अपने कर्मवश गर्भमें प्रवेश करके देह धारण करता है। फिर नौ मासतक मल-मूत्र, वात-पित्त-कफादिसे पूर्ण माताकी महामलिन कोखमें पड़ा-पड़ा जठरानलसे जला करता है और महान् कष्टका अनुभव करता है। जब प्रसवकाल होता है, उस समय दैवयोगसे यदि बालक गर्भके अंदर टेढ़ा—तिरछा हो जाता है तो अस्त्र-शस्त्रसे देहको काटकर उसे बाहर निकाला जाता है। अथवा यदि प्रसव ठीक हुआ तो प्रसूति-वायुसे प्रेरित होकर वह संकुचित योनि-छिद्रोंमेंसे बाहर निकलता है, उस समय उसे अवर्णनीय कष्ट होता है। जन्म होनेके बाद नाना प्रकारकी आधि-व्याधि, सगे-सम्बन्धियोंके वियोग, विपत्ति, कलह एवं दरिद्रता आदिसे जो दुःख उसे उठाना पड़ता है वह भी अकथनीय ही है। नाना प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बँधा हुआ यह जीव मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ अनेक प्रकारके क्लेश भोगता है। इन सब योनियोंमें मनुष्ययोनि सबसे श्रेष्ठ एवं दुर्लभ है। मनुष्य-योनिमें भी उच्च कुलमें जन्म तथा शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करके भी जिसने हरिभक्ति, भगवान्‌की सेवा, अच्छे-बुरेका विवेक तथा देहकी नश्वरताका ज्ञान नहीं प्राप्त किया, वह चाहे कितना ही धनवान्, बुद्धिमान् अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हो, उसका जन्म वृथा है, भाररूप है और उसकी आयु व्यर्थ नष्ट होती है। एक-एक क्षण जो हमारा व्यतीत हो रहा है, उसे हम हजारों रुपये खर्च करके भी लौटा नहीं सकते। ऐसे अमूल्य समयको हम लोग व्यर्थ खो रहे हैं, इससे बढ़कर हमारी हानि क्या हो सकती है और इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात भी क्या हो सकती है। पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनियोंमें तो अच्छी प्रकारसे अपनी देहका भी ज्ञान नहीं रहता, भजन-सेवनकी तो बात ही क्या है। ऐसी दशामें भूख-प्यास, श्रम, रोग आदिसे पीड़ित होकर ये निरन्तर भार उठानेमें व्यस्त रहते हैं अथवा पिंजरे आदिमें बंद रहकर चलने-फिरनेकी स्वतन्त्रता भी खो बैठते हैं और रात-दिन दुःखी रहते हैं। यही नहीं, ऊपरसे उन्हें मार भी पड़ती है तथा गालियोंकी बौछार भी सहनी पड़ती है। इस प्रकार उनके कष्टोंका वर्णन नहीं हो सकता। इधर हमारे शरीरका यह हाल है कि नाकसे, मुँहसे, गुदासे तथा मूत्रेन्द्रियसे कफ, मल, मूत्र आदिके रूपमें तथा रोमकूपोंमेंसे पसीनेके रूपमें गंदगी सदा निकलती रहती है, जिसे देखकर स्वयं हमको घृणा होती है—यद्यपि यह मल अपना ही होता है, अपने ही शरीरसे निकलता है तथा शरीरमें सदा भरा रहता है। इस प्रकार ऊपरसे नीचेतक यह देह दुर्गन्धसे भरी है, इसका कोई भी भाग दुर्गन्धसे शून्य नहीं है। ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीरपर हम इत्र-फुलेल आदि मलकर, चन्दन आदि लगाकर तथा उसे फूलोंसे सजाकर उसके दोषोंको ढकनेकी चेष्टा करते हैं और उसे अच्छा मानते हैं। पुनः इस शरीरमें फोड़े-फुंसी आदि हो जाते हैं तथा समयपर कीड़े भी पड़ जाते हैं। ऐसी दशामें वही शरीर, जिसपर हमारा इतना मोह था, अब अपनी ही घृणाका पात्र बन जाता है। ऐसे शरीरपर मोह रखना कितने आश्चर्य और मूर्खताकी बात है।

जो शरीर देखनेमें इतना सुन्दर मालूम होता था, मलाईकी तरह सफेद और कोमल शय्यापर सोता था, मखमलके गुदगुदे गद्दोंपर बैठता था और जिसे बड़े जतन और आरामसे रखा जाता था, आयु शेष हो जानेपर उसी शरीरको मूँजसे कसा जाता है, कठोर बाँसोंपर रखकर बाँधा जाता है और कँटीली खुरदरी चितापर रखकर भस्म कर दिया जाता है। कल जो शरीर गद्दे-तकियोंपर बैठकर हुक्म चलाता था और जिसे देखकर सगे-सम्बन्धी, नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र आदि हर्षित

होते थे, वही आज देखते-देखते जलकर राखकी ढेरीमें बदल जाता है। कल उसे देखकर जो लोग हर्षसे फूले न समाते थे, वही आज उसे स्मरणकर आठ आँसू रो रहे हैं। ऐसी यह क्षणभङ्गुर और मलिन देह प्रभुकी सत्तासे ही चल रही है। मनुष्यका किया कुछ नहीं होता। ऐसे दीनदयालु प्रभु श्रीराधावल्लभलालको भूलकर मनुष्य इस अनित्य एवं महामलिन देहमें अभिमान करता है, यह इसकी कितनी बड़ी भूल है ? किंतु फिर भी वह इसपर विचार नहीं करता। अतः महाप्रभुजी कहते हैं कि इसे सत्संगमें रखो—

'राखि सत्संग में'

भक्तिमार्गमें असत्संग (दुःसंग) बड़ा बाधक है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है। सत्संगका अर्थ है—जिसका मन प्रभुकी ओर फिर गया हो, उसीका संग करना। जिसका मन निरन्तर प्रभुमें ही रहता है, उसे तो किसी दूसरे सत्संगकी आवश्यकता ही नहीं है, उसे तो सबसे बड़ा सत्संग प्राप्त है। क्योंकि 'सत्' नाम परमात्माका है और उनके चिन्तनसे बढ़कर और कोई सत्संग हो नहीं सकता। परंतु जिसका मन अभी प्रभुमें नहीं रमता, उसे सत्संगकी बड़ी आवश्यकता है। सत्संगकी महिमा अपार है। सच्चे संतोंका एक क्षणका सत्संग भी महान् लाभदायक होता है। सभी शास्त्रोंने, अनुभवी पुरुषोंने तथा स्वयं भगवान्ने सत्संगकी बड़ी महिमा गायी है, जो अक्षरशः सत्य है। सत्संगके बिना भगवान्का महत्त्व जाननेमें नहीं आता तथा उन्हें प्राप्त करनेकी वास्तविक कुंजी नहीं मिलती। भगवान्का महत्त्व जाने बिना उनकी शरणमें नहीं जाया जाता और बिना भगवान्के शरण हुए जीवका उद्धार सहजमें नहीं होता। परमार्थसाधनमें तो श्रद्धाके बाद सत्संगका ही नंबर आता है, परंतु सच्ची श्रद्धा सत्संगसे ही होती है। सत्संगमें तीन बातोंपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है—

(१) जिसका हम संग करें, वह पुरुष सच्चा होना चाहिये।

(२) तदनुकूल आचरण करनेके उद्देश्यसे सच्ची जिज्ञासाके साथ निष्कपटभावसे श्रद्धापूर्वक उनका संग किया जाय। और—

(३) जिस मार्गमें अपनी निष्ठा हो, उसी मार्गपर चलनेवालेका संग किया जाय।

—इन तीन बातोंमेंसे एकका भी अभाव होनेसे शीघ्र यथार्थ लाभ नहीं होता। शीघ्र लाभ न होनेसे मन चलायमान हो जाता है। और वास्तविक लाभ तभी होता है, जब निष्कपट हृदयसे, लाभकी सच्ची इच्छासे सत्संग किया जाय और तदनुकूल आचरण किया जाय। जैसे बरसातका पानी खेतोंमें रखनेके लिये किसान मेंड़ बनाता है, उसी प्रकार सत्संग करनेवालेको चाहिये कि वह संत-वचनोंका शुद्ध हृदयरूपी खेतमें संग्रह करे। भावशून्य, विकारयुक्त और विश्वासरहित हृदयसे किया हुआ सत्संग सत्संग नहीं कहलाता। शक्तिसम्पन्न गुरु शिष्यके अंदर शक्तिसंचार करना चाहते हैं, परंतु शिष्यका हृदय कठोर भावनासे युक्त होनेके कारण उसे ग्रहण नहीं कर पाता, जिससे वह शक्ति बार-बार लौट जाती है। आधारकी योग्यता होनेपर ही उसके द्वारा शक्तिका ग्रहण होता है। इसीलिये गुरुके प्रति श्रद्धा रखने तथा उनकी शुश्रूषाका विधान है। जो लोग परीक्षा अथवा मनोरञ्जनके लिये सत्संग करते हैं, उन्हें बहुत कम लाभ होता है। जिसका हृदय शुद्ध है, उसके लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। संसारमें सभी पदार्थ मौजूद हैं, उन्हें प्राप्त करनेके लिये योग्य पात्रकी आवश्यकता होती है। सत्संगकी महिमापर शास्त्रोंमें अनेक वचन मिलते हैं। सत्संगसे सब प्रकारकी सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं। श्रीव्रजलाल गोस्वामिचरणने सेवा-विचारमें लिखा है—

सत्संगेन लभेत भक्तिपदवीं श्रीराधिकास्वामिनः
सत्संगेन वसेत् सदैव शुचिमान् वृन्दावने पावने।
सत्संगेन च नन्दनन्दनधिया श्रीमद्गुरुं स्वं भजन्
सत्संगेन च तापपापनिचयं मर्त्यो जहाति ध्रुवम्॥

'सत्संगसे श्रीराधावल्लभलालकी भक्तिका रास्ता मिलता है, सत्संगसे मनुष्य पवित्र वृन्दावनधाममें पवित्रताके साथ निरन्तर रहने लगता है और सत्संगसे अपने गुरुको नन्दनन्दन-बुद्धिसे भजता हुआ प्राणी निश्चय ही पाप-तापके समूहसे छूट जाता है।'

जैसा अपना मार्ग हो, जैसा भाव हो और जैसी मनकी वृत्ति हो, उसीके अनुकूल सत्संग मिलनेसे बात ठीक बैठती है, नहीं तो फल उलटा होता है। महात्मा ध्रुवदासजीने कहा है—

इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस रीति।
मिलिये तहाँ निसंक ह्वै, कीजै तिनसों प्रीति॥
खान पान नित कीजिये रसिक मंडली माहिं।

जिनके और उपासना तहाँ उचित ध्रुव नाहिं॥
और भाव जिनके नहीं, जुगल बिहार उपास।
सुन ध्रुव मन बच कर्म करि ह्वै रहु तिनको दास॥

यह सत्संगकी अनन्यता है।

'मनहि'

मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन ही मनुष्यको संसारसे बाँधता है और मन ही उसे संसारके बन्धनसे छुड़ाता है। जहाँ मन नहीं, वहाँ बन्धन भी नहीं। अहंता और ममता मनहीसे होती है। अहंता-ममतावाला मन ही बन्धनका कारण होता है और अहंता-ममतारहित मन मोक्षका कारण होता है। मन अज्ञान और अविवेकको लेकर मिथ्या स्थितिको सत्य मान लेता है, इसीसे वह सब कर्मोंका कर्ता बन जाता है। आत्माके साथ एकता करके स्वयं जीवात्मा बन बैठता है और इसीसे सुख-दुःखका भोक्ता बन जाता है। मन ही जीवात्माको विषयोंमें ले जाता है, इसीसे वह जन्म-मरणवाला भासता है। यह अति चञ्चल और महान् बलवान् है। भगवान्ने भी गीताजीमें कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्॥

महात्मा ध्रुवदासजी कहते हैं—

मन तौ चंचल सबनि ते कीजै कौन उपाय।
साधन को हरि भजन है, कै सतसंग सहाय॥

जगत्‌में रचे-पचे मनके लिये यही रास्ता है कि मनुष्य प्रभु-भजन करता जाय, सत्संग करता जाय और संसारसे वैराग्यको बढ़ाता जाय। गीतामें भगवान्ने मनको निगृहीत करनेका उपाय अभ्यास और वैराग्य ही बताया है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

'प्रेम रस भेव'

प्रभु आनन्द, प्रेम और स्नेहके भण्डार हैं। अतः जो कोई उन्हें आनन्द, प्रेम या स्नेहसे भजते हैं, उन्हें वे अवश्य मिलते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवान्से प्रेम करता है, त्यों-ही-त्यों वह उनके अधिक समीप पहुँचता है। अपरिमित प्रेमस्वरूप भगवान्के साथ जब एकताका अनुभव होने लगता है, तब मनुष्यके अंदर दिव्य प्रेमका स्फुरण होता है, जिससे उसका जीवन सघन होकर परमानन्दका अनुभव करता है। देवर्षि नारदने प्रेमका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।

अर्थात् 'प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाला, अविच्छिन्न, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और केवल अनुभवरूप होता है।'

प्रेममें इतनी शक्ति है कि वह दुःखी जगत्‌के दुःखको दूरकर उसे सुखी कर सकता है। प्रेमका सम्बन्ध अन्तरके भावसे होनेके कारण प्रेममार्गमें बाह्य क्रियाकी प्रधानता नहीं है। केवल प्रेमपूर्वक भगवान्‌को भजनेसे तथा श्रीविहारीजीकी नित्य सेवा करनेसे ही प्रभुकी प्राप्ति हो जाती है। कहा भी है—

प्रेम एव परो धर्मः प्रेम एव परं तपः।
प्रेम एव परं ज्ञानं प्रेम एव परा गतिः॥

'प्रेम ही परम धर्म है, प्रेम ही परम तप है, प्रेम ही परम ज्ञान है और प्रेम ही परम गति है।'

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेम भावका विषय है, उसे शब्दोंद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रेमकी भाषा अन्तःकरणके द्वारा ही समझी जा सकती है। वह गूँगेका गुड़ है। इसलिये प्रेमसहित प्रभुकी सेवा और भजन करनेकी आवश्यकता है। प्रभु सबके अन्तःकरणमें विराजते हैं। अतः वे प्रेमको समझने, देखने और अनुभव करनेमें सब प्रकारसे समर्थ हैं। गृहस्थाश्रममें रहकर पूजा-श्रवणादिके द्वारा श्रीप्रिया-प्रियतमको भजनेसे हृदयमें भक्तिका अङ्कुर जमता है। लौकिक व्यवहार करते हुए भी भगवान्के गुण-श्रवणादिमें निरन्तर चित्तको लगाये रखनेसे भगवान्‌में प्रेम अथवा आसक्ति उत्पन्न होती है। इसके बाद जीवको भगवान्‌का ही व्यसन हो जाता है। प्रपञ्चको भुलाकर भगवान्‌में आसक्ति करनेसे ही भगवान्‌का व्यसन होता है अर्थात् जीवकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि फिर उससे भगवान्‌के सेवा-भजनादिके बिना रहा नहीं जाता। ऐसी स्थिति हो जानेपर ही भक्तिका अङ्कुर दृढ़ हुआ समझना चाहिये। इस प्रकारका भाव उत्पन्न हो जानेपर फिर कालके प्रभावसे उसका नाश नहीं होता। भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर अन्य वस्तुओंसे अनुराग अपने-आप हट जाता है। तब संसारके पदार्थ भक्तिमें बाधक और अनात्मरूप भासने

लगते हैं। प्रिया-प्रियतमका व्यसन हो जानेपर ही जीवको कृतार्थ हुआ जानना चाहिये।

'सुख चाहत'

सच्चा सुख उसीका नाम है, जिसके पीछे दुःखका लेशमात्र भी न हो। जगत्‌के जितने भी सुख हैं, वे सभी मायिक एवं कल्पित हैं, क्षणिक हैं, सारहीन हैं, अनेक उपाधियोंसे युक्त हैं तथा परिणाममें दुःखरूप ही हैं। देह स्वयं नश्वर है, तब देहके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले सुख स्थायी कैसे हो सकते हैं ? देहात्मवादी शरीरको ही आत्मा मानकर उसीके सुखको वास्तविक सुख मानते हैं, उन्हें आत्मसुखका पता ही नहीं होता। इसीलिये वे परिणाममें दुःखी होते हैं। परंतु बुद्धिमान् पुरुष देहसुखको त्यागकर आत्मसुखमें ही प्रसन्न होते हैं। वे मनका सम्बन्ध आत्माके साथ करके आत्मसुखानुभव करते हैं। श्रुति कहती है—**'आनन्दं ब्रह्म'**—आनन्द ही ब्रह्मका रूप है। जीव प्रभुका अंश है, अतः जीवका भी आनन्द ही गुण है।

इस आनन्दरूप गुणकी उपलब्धि कर लेनेपर जीव सदाके लिये दुःखोंसे छूटकर सुखरूप हो जाता है। इस सुखकी उपलब्धिका साधन क्या है ? प्रभु-भजन और सेवन। श्रीकृष्ण-नामका प्रेमपूर्वक भजन करनेसे मनुष्य अनन्त सुखका भागी बन जाता है। यद्यपि प्रारम्भमें मोहवश भजन करनेवाले मनुष्यको दुःखकी प्रतीति होती है, परंतु परिणाममें उसे अविचल सुखकी प्राप्ति होती है। गणेश-गीतामें लिखा है—

विषवद्भासते पूर्वं दुःखस्यान्तकरं च यत्।
इष्यमानं तथावृत्त्या यदन्तेऽमृतवद्भवेत्॥

'यह भजनरूपी सुख पहले विषके समान दुःखदायी प्रतीत होता है, परंतु है यह दुःखका अन्त करनेवाला। इसकी बार-बार इच्छा करनेसे और पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे यह परिणाममें अमृततुल्य हो जाता है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

'जो प्रारम्भमें विषतुल्य प्रतीत होता है, किंतु परिणाममें अमृतके समान है तथा जो मन और बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होता है, वह सात्त्विक सुख कहलाता है।'

'हरिवंश हित'

'बानी' ग्रन्थोंमें लिखा है कि श्रीकृष्णचन्द्रके हृदयमें श्रीराधिकाजी विराजती हैं और श्रीराधिकाजीके हृदयमें श्रीकृष्ण विराजते हैं। दोनोंका निकुञ्जमें संयोग रहता है। अत्यन्त प्रेमसंयोगके समय श्रीलालजीने जाना कि मैं प्रियाजू हूँ और प्रियाजीने जाना कि मैं लालजी हूँ। इसी प्रकार अत्यन्त प्रेमावस्थामें दोनों हितमय अर्थात् प्रेममय बन गये। इससे दोनोंके हृदयमेंसे प्रेमका प्रकाश हुआ। तब प्रभुने दोनों प्रेमका संयोग किया, जिससे तीसरा स्वरूप प्रकट हुआ। वही श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी हैं। आचार्यश्रीके चार स्वरूप हैं—

(१) श्रीलालजीके कर-कमलमें रहनेवाली तथा अहर्निश उनके अधर-रसका पान करनेवाली वंशी, (२) हित सखी, जो निकुञ्जमें श्रीप्रिया-प्रियतमजूकी संनिधिमें रहकर अहर्निश युगल-स्वरूपकी सेवा-टहल किया करती हैं, (३) हितरूप, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है तथा (४) आचार्य-स्वरूप जिससे उन्होंने व्यास मिश्रजीके घर श्रीतारा रानीकी कोखसे प्रकट होकर श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय चलाया और अनेक जीवोंको शरणमें लेकर जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ाया।

भक्तमालमें नाभाजीने आचार्यश्रीके सम्बन्धमें निम्नलिखित छप्पय लिखा है—

(श्री) राधाचरन प्रधान हृदय अति सुदृढ उपासी।
कुंज केलि दंपती तहाँकी करत खवासी॥
सर्बस महाप्रसाद सिद्ध ताके अधिकारी।
बिधि निषेध नहिं दास अनन्योत्कट ब्रतधारी॥
(श्री) व्यास सुवन पथ अनुसरे, सोइ भले पहिचानिये।
(श्री) हरिवंश गुसाई भजनकी रीति सुकृत सोइ जानिये॥

निकुञ्जमें रासके समय श्रीललिता सखीकी प्रार्थनासे श्रीप्रियाजीने श्रीलालजीके हस्तकमलमेंसे वंशी लेकर कहा कि यह वंशी कलियुगमें अवतार ले जीवोंका उद्धार करेगी और निकुञ्जकी गुप्त लीलाओंको भक्तजनोंके समक्ष प्रकाशित करेगी।

एतदर्थ आचार्यश्रीने कठिन मार्गका त्याग कर सरल एवं सुसाध्य प्रेम-भक्तिके राजमार्गका प्रचार किया और इस प्रकार अपने अपूर्व बुद्धि-कौशलका परिचय दिया। उन्होंने बताया

कि ज्ञान और कर्म कलियुगमें साध्य नहीं हैं, अतएव उन्होंने प्रेमाभक्तिके उत्तम एवं सरल मार्गको प्रकट किया। वे सदा प्रभुके विचारमें ही मग्न रहा करते थे। उनके लौकिक-अलौकिक सभी व्यापार प्रभुके लिये ही होते थे और प्रभुसे सम्बन्धित रहते थे। उनकी भगवान्‌में अचल श्रद्धा थी और था प्रेम। वे अपरिमित आत्मबल एवं अलौकिक सामर्थ्यसे सम्पन्न थे, वे तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ, वेद-वेदान्तके मर्मको जाननेवाले, उत्तम उपदेशक, सबकी शंकाओंका समाधान करनेवाले, परम संतोषी, त्यागवृत्तिसे रहनेवाले, लौकिक विषयोंके आकर्षणसे सर्वथा मुक्त, स्वार्थरहित, संसारमें रहते हुए भी संसारसे निर्लेप तथा विवेक, धैर्य, प्रेम, सेवा आदि अनेक कल्याणमय गुणोंसे विभूषित थे। ऐसे आचार्यशिरोमणिके उपदेशका आश्रय लेकर भगवान् श्रीकृष्णकी चरणसेवा करना ही उत्तम सुखका उपाय है। यही बात दोहेके अन्तिम चरणमें कही गयी है—

'कृष्ण-कलपतरु सेव'

प्रातःकाल उठते ही भगवान्‌का स्मरण कर शौच-स्नानादिसे देहशुद्धि कर प्रभु-सेवामें संलग्न हो जाना चाहिये। सेवा करते समय प्रभुके चरणोंमें ही चित्तको लगाये रखना चाहिये और इसके बाद लौकिक कार्य करने चाहिये। प्रभु हमारे सब कार्य स्वयं करेंगे, ऐसा समझकर उनपर दृढ़ विश्वास करके उनका भजन करना चाहिये। प्रभुकी सेवामें सभी देवताओंकी सेवा आ जाती है, इसलिये सब ओरसे चित्तको हटाकर उन्हींमें जोड़ देना चाहिये तथा उनकी प्रीतिके लिये ही उनका भजन करना चाहिये। उनसे किसी वस्तुकी याचना नहीं करनी चाहिये। प्रभुमें ही सब इन्द्रियोंके व्यापारको केन्द्रित कर रखना तथा उन्हींमें चित्तको पिरोये रखना ही उनकी सेवा है। जो मनुष्य अपने चित्तको प्रभुमें निवेशित कर लौकिक और अलौकिक कार्य करते हैं, वही वास्तवमें भाग्यशाली हैं। अम्बरीष, जनक-प्रभृति राजालोग राजवैभव भोगते हुए भी निरन्तर प्रभुमें ही निवास करते थे। सभी मनुष्योंको ऐसे महानुभावोंका अनुकरण करना चाहिये।

कितने ही महानुभावोंका मत है कि सेवाके बिना जीवन व्यर्थ है। श्रीरंगीलालजी गोस्वामी कहते हैं—

सेवां विना जीवनमप्यपार्थं
सेवां विनान्यत् सुकृतं किमर्थम्।
सेवैव यज्ञश्च तपश्च तीर्थं
तस्मान्न सेवां त्यज भोः कदाचित्॥

(मनःप्रबोध)

'सेवाके बिना जीवन ही निरर्थक है, सेवाके बिना और सत्कर्म किस कामके? सेवा ही यज्ञ है, सेवा ही तप है, सेवा ही तीर्थ है, अतः हे मन! तू कभी सेवाका परित्याग न कर।'

सेवासे ही सब दुःखोंकी निवृत्ति होती है और बीचमें ब्रह्मका भी ज्ञान हो जाता है। इससे प्रिया-प्रियतमकी सेवा सदा करनी चाहिये।

सेवा तीन प्रकारकी कही गयी है—(१) तनुजा (जो शरीरसे की जाती है), (२) धनजा (जो धनसे अर्थात् नाना प्रकारकी सामग्रियोंसे की जाती है) और (३) मानसिकी (जो मनसे की जाती है)। इन तीनोंमें मानसिकी सेवा सर्वोत्तम है। जो सेवा अन्तरमें तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे होती रहती है, वही मानसिकी सेवा है। मानसी सेवाकी सिद्धिके लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवाका विधान है। सेवकको चाहिये कि वह सब कुछ भगवान्‌को अर्पण करके ही अपने उपयोगमें ले। जो लौकिक विषयोंकी प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश)-मेंसे किसी एककी उपासना करनी चाहिये। और जो विषयोंकी इच्छा न करके केवल परमानन्दकी इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीप्रिया-प्रियतम युगलकिशोर नित्यविहारीकी सेवा करनी चाहिये। सेवा ही प्रभुप्राप्तिका साधन है। प्रेमसहित प्रभुको निरन्तर भजनेसे ही उनकी प्राप्ति होती है, दूसरे किसी उपायसे नहीं। जो भगवान्‌के अनन्य दास हैं, वे प्रभुकी सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माँगते। उनकी दृष्टिमें और सभी पदार्थ तुच्छ हैं, हेय हैं। जो मनुष्य बड़प्पनके अभिमानका त्याग कर प्रभुकी दासता स्वीकार करता है, प्रभु उसीसे प्रसन्न रहते हैं। जो सेवक स्वामीकी इच्छाके अनुसार चलता है, उसीपर स्वामीकी कृपा होती है। अतः भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये उनकी रुचि और आज्ञाका निरन्तर विचार और उसीके अनुसार आचरण करनेकी आवश्यकता है। भगवान्‌में मनको पिरोया हुआ रखनेसे ही उनकी रुचि, आज्ञा अथवा प्रसन्नताका पता लग सकता है, अन्यथा नहीं। जीवनयात्रा सुखपूर्वक कैसे

चले, इसका ज्ञान भी सेवासे ही प्राप्त होता है, क्योंकि हमारी बुद्धिके प्रेरक भी श्रीभगवान् ही हैं। अपरिमित बल, अपरिमित स्नेह, अपरिमित सत्ता और अपरिमित गुणोंके स्वामीके साथ एकता सेवासे ही सम्भव है। अतः जिसे अपरिमित सुख प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसे अपरिमित सत्तावालेकी ही सेवा करनी चाहिये—यही निश्चित सिद्धान्त है। वे अपरिमित सत्तावाले श्रीभगवान् ही हैं, अतः उन्हींकी सेवा करनी चाहिये।

मोहनकी मोहिनी छटा

(श्रीरामकृष्णजी शर्मा, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), बी० एड्०)

(१)

बनमें बहु बालसखा सँग सों, बहु हास-बिलास रचावतु है।
मुरली-स्वर ते सखि ! साँवरो सोइ, सलोनी छटा बगरावतु है॥
स्वर धेनु सुनै, अति आतुर ह्वै, हरषावतु हिय हुलसावतु है।
यमुना-तट ते सखि ! साँझ भये, नँदलाल गुपाल सो आवतु है॥

(२)

हम भूलि गयीं छिन माँहि सबै, सो हमें अति ही भरमावतु है।
अब स्याम-सलोनो हमारो भयो, बनमें बहु रास रचावतु है॥
सँग सोहैं सखा सो सनेह भरे सखि ! माखन चाखन आवतु है।
हम हूँ अति भोरी किसोरी भई, तिन सों अति प्रीति बढ़ावतु है॥

(३)

घनस्याम बस्यो उर माँहि सखी ! वह मोहिनी मूरति भावति है।
मुसिकानि मनोहर मंजु छटा सों, सनेह-सुधा बरसावति है॥
लखि पीत-पटा सुधि भूलि गयीं, फहरानि हिये सरसावति है।
जमुना-तट-कुंज-कदंबकी छाँह, हमैं बहु बार बुलावति है॥

(४)

नित साँझ-सकारे सलोनी छटा, छलियाकी मुरलिया बाजति है।
अखियाँ दुखियाँ भई बावरी-सी, वह मूरति ध्यान न आवति है॥
अति ही हित मोहि भयो हरि सों, मोहि नींद निगोड़ी न आवति है।
अति नेह बढ़ाइ दियो तजि मोहि, यह प्रीतिकी रीति न भावति है॥

(५)

बनमाल लसै बंसी बर बैन सों, नीके-से नैन दिखाय गयो री।
सखि ! आँगन आइ अबै अनमोल सों, मीठे-से बोल सुनाय गयो री॥
नव-नूपुर मंजु लसैं पग हूँ कटि-किंकिनि को स्वर भाइ गयो री।
वह साँवरो लोनो सलोनो मेरे, हियमें बसि, नैन समाय गयो री॥

(६)

यमुना-तट बंसी-बट रट री, सखि! ह्वै बलिहार गयो ब्रज है।
कल कानन कुंडल सोहैं सखा सँग, सोहति मोहनी गोरज है॥
कहुँ साँझ बयारि बहै बन माँहि, तबै उपजै सुख-नीरज है।
लखि पीत पटा फहरानि सखी चलीं धेनु उठी ब्रजमें रज है॥

(७)

जब बेनुकी तान सुनीं बन-धेनु, रुकैं नहिं रोकेहु भाँजि चली हैं।
कहुँ कोकिल कोमल कूकहू आज, रुकी कलकंठहि लाज लगी है॥
कहुँ छूटी समाधि महेसकी आज, लगी जुग सों पल हूँ बिचली है।
कहुँ गंगतरंग रुकी, कहुँ नारद-बीनहु राग सो ह्वै अचली है॥

(८)

कहुँ मंद चकोर-चकोरी लसैं, कहुँ चंद्रकला बगरावतु है।
कहुँ रास रचै ब्रज गोपबधू, कहुँ बेनु सुधा बरसावतु है॥
सखि ! कानन सों ब्रजराज सखा-सँग धेनु चराइ कै आवतु है।
कहुँ बेलि बढ़ै, बिलसै, ऋतुराजहु प्रीतिकी रीति बढ़ावतु है॥

(९)

हरिनी तृन छाँड़ि सुन्यो मुरली-स्वर, रीझि कै कान लगावति है।
कहुँ पंथक भूलि पर्‌यो पथ सों, कहुँ मोरको लाज न लागति है॥
घर-बार तज्यो बन भाजि उठी, ब्रजनारिन धीर न लावति है।
कहुँ कान्हकी बेनु बजी बन माँहि, सो साँस-उसास न आवति है॥

(१०)

सखि ! आयो बसंत दिगंत लसै, कहुँ पीत प्रभाको प्रसून बढ़ावै।
कहुँ नीर-समीर बहै, ब्रजनारिन अंग अनंग हू आगि लगावै॥
प्रीतिकी रीति छुड़ाये कहूँ ब्रजराज-बियोगहु को उपजावै।
सखि ! रातिमें नींद निगोड़ी भई, नँदनंदनुके बिनु चैन न आवै॥

'बीते हुएकी चिन्ता न करो, जो अब करना है, उसे विचारो और विचारो यही कि बाकीका सारा जीवन केवल उस परमात्माके ही काममें आवे।'

पाँच प्रश्न

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

एक सज्जनके ये पाँच प्रश्न हैं—

१-प्रकृतिका क्या स्वरूप है और परमात्माके साथ उसका क्या सम्बन्ध है ?

२-संसार क्या है और कबसे है ?

३-जीव क्या है और जीवका यह बन्धन कबसे है ?

४-दो पुरुष और एक पुरुषोत्तम—इससे क्या त्रैतवाद सिद्ध होता है ?

५-क्या ज्ञानी, भक्त और योगी तथा मुक्त पुरुष सृष्टि, पालन और संहार आदि कार्योंमें परमेश्वरके समान ही शक्ति-सम्पन्न होते हैं ?

प्रश्न बड़े गहन हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर वही पुरुष कुछ दे सकता है, जिसने अनुभवसे इन विषयोंकी यथार्थताका ज्ञान प्राप्त किया हो। केवल अध्ययनके आधारपर कुछ भी कहनेमें भूल न होना बहुत ही कठिन है। फिर, मैं तो अध्ययनका भी दावा नहीं कर सकता। मैंने प्रश्नकर्ता महोदयसे दूसरे महानुभावोंसे पूछनेके लिये प्रार्थना की थी, परंतु उन्होंने आग्रहपूर्वक मुझसे ही उत्तर माँगे हैं। इसलिये बाध्य होकर लिख रहा हूँ। सम्भव है, इस विषयमें दिलचस्पी रखनेवाले 'कल्याण'के पाठकोंका भी कुछ मनोरञ्जन हो, इससे पाँचों प्रश्नोंका उत्तर एक ही साथ संक्षेपमें नीचे दिया जाता है। प्रश्नकर्ता महोदयने मेरी परीक्षाके लिये ही यदि प्रश्न किये हों तब तो मैं पहले ही अपनेको अनुत्तीर्ण मान लेता हूँ। हाँ, उन्होंने यदि जिज्ञासाकी दृष्टिसे पूछा है तो सम्भव है उन्हें अपनी श्रद्धाके बलसे इस धूलके ढेरमें भी कुछ रत्न मिल जायँ।

परमात्माकी स्वकीय नित्यशक्तिका नाम प्रकृति या माया है। जिस प्रकार परमात्मा अनादि हैं, उसी प्रकार उनकी यह शक्ति—प्रकृति भी अनादि है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

जबतक शक्तिमान् पुरुष हैं तबतक उनकी शक्तिका कभी विनाश नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा जबतक हैं तबतक उनकी शक्ति भी है और परमात्मा अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी हैं, उनका कभी जन्म और विनाश नहीं होता, इसलिये उनकी शक्तिका भी विनाश सम्भव नहीं। परंतु जब वह क्रियाहीन रहती है, शक्तिमान्में लीन रहती है, तबतकके लिये वह अदृश्य या शान्त हो जाती है। इसलिये उसे अनादि और सान्त भी कहते हैं। परमात्मा इस प्रकृतिकी भाँति कभी अदृश्य नहीं होते। प्रकृतिका सारा खेल—कालतक प्रकृतिमें लय हो जाता है और सबकी जननी यह प्रकृति भी जिसमें लय हो जाती है, इन सबके लय होनेके बाद भी अविचल रूपसे नित्य अचल वर्तमान रहनेवाले परम तत्त्वका नाम ही परमात्मा है। प्रकृतिके उनमें प्रविष्ट हो जानेपर केवल वे परमात्मा ही रह जाते हैं, इसीलिये वे नित्य, अविनाशी, अपरिणामी, परम सनातन अव्यक्त पुरुष कहलाते हैं। संसारकी कारणरूपा मूल अव्यक्त प्रकृति शक्तिरूपसे इन्हींमें समाहित रहती है, इन्हींके संकल्पानुसार विकसित होकर व्यक्त होती है, पुनः सिमटकर इन्हींमें लीन हो जाती है। इसीसे ये सनातन अव्यक्त हैं।

प्रकृतिके भी दो स्वरूप हैं—एक अविकसित यानी अव्यक्त, दूसरा विकसित। जब प्रकृति अक्रिय है तब यह अव्यक्त है, उस समय प्रकृतिसे प्रसूत कार्य-करणका (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—पाँच सूक्ष्म भूत और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच विषय ये दस कार्य हैं एवं बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ यह तेरह करण हैं) विस्तार यह समस्त संसार मूल-प्रकृतिसहित परम सनातन अव्यक्त परमात्मामें समा जाता है। शक्ति शक्तिमान्के अंदर निस्तब्ध होकर स्थित रहती है। उस समय जगत्के समस्त जीव अपने-अपने कर्मसंस्कारोंसहित मूल-प्रकृतिरूप महाकारणमें लीन रहते हैं। माता उन सबको आँचलमें छिपाकर ही पिताके अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो जाती है। इसी अवस्थाको महाप्रलय कहते हैं।

परमात्माकी सत्ता-स्फूर्ति और संकल्पसे प्रकृतिदेवी जब घूँघट खोलकर अन्तःपुरसे बाहर निकलती है—क्रियाशीला होती है, तब उसे विकसित कहते हैं। इसके व्यक्त होते ही संसार पुनः बन जाता है, सम्पूर्ण जीव अपने-अपने कर्मानुसार व्यक्तित्वको प्राप्त हो जाते हैं। यह विकसित प्रकृति भी

अव्यक्त ही रहती है। सर्गके अन्तमें जीव अपने कर्मसमुदायसहित कारण शरीरको साथ लिये इसी अव्यक्त प्रकृति या ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें लीन रहते हैं और सर्गके आदिमें पुनः उसीमेंसे प्रकट हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

सम्पूर्ण व्यक्त जीव ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें—सर्गके आदिमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके आगमनकालमें पुनः उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं। फिर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(गीता ८। २०)

परंतु उस अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ दूसरा सनातन अव्यक्त तत्त्व है। वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नहीं नष्ट होता। बस, वही उपर्युक्त सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।

मूल अव्यक्त प्रकृतिका नाम ही अव्याकृत माया है, वही परमात्माकी नित्य, अनादिशक्ति है, न किसीके द्वारा इस शक्तिका निर्माण हुआ है और न यह किसीका विकार है। इसलिये यह मूल और अव्याकृत है। परमात्मा जब इस प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करते हैं, तभी गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति प्रकृतिमें विकृति उत्पन्न हो जाती है। वह विकार क्रमशः सात होते हैं—महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि), अहंकार और सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ। मूल-प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं, परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको प्रकृति भी कहते हैं। अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रासे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिये इन दोनोंके समुदायका नाम 'प्रकृति-विकृति' है। मूलप्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल-प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व माने गये हैं। इन्हीं चौबीस तत्त्वोंका यह स्थूल संसार है। जीवका स्थूल देह भी इन्हीं चौबीस तत्त्वोंसे निर्मित होता है। ये चौबीस तत्त्व प्रकृति और उसके कार्य हैं।

परंतु यह प्रकृतिका कार्य केवल प्रकृतिसे ही नहीं सम्पन्न होता, परमात्माकी चेतन सत्तासे ही प्रकृति क्रियाशीला होती है। शक्तिमान्से अलग शक्तिकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। शक्तिमान् परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही शक्ति कार्य करती है। इसीसे भगवान्ने गीता (९। १०)में कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

'हे अर्जुन! मुझ परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही मेरी यह प्रकृति (माया) चराचरसहित जगत्को रचती है और इसी हेतुसे यह संसार चक्रवत् घूमता है।'

इससे यह निष्पन्न होता है कि परमात्माको सत्ता-प्राप्त प्रकृतिका ही परिणाम यह सारा चराचर जगत् है। परमात्माकी चेतनासे ही प्रकृतिका परिणाम यह जगत् चेतन है। इस दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि शक्ति शक्तिमान्से अलग न होनेके कारण शक्तिका परिणाम शक्तिमान् परमात्माका ही परिणाम है, परंतु यह याद रखना चाहिये कि परमात्मा स्वयं वस्तुतः अपरिणामी हैं। यह बात ऊपर आ चुकी है। परमात्मा स्वभावसे ही सत्ता देकर शक्तिको क्रियाशीला बनाते हैं, परंतु उसके कार्यसे वे स्वयं परिणामी नहीं हो सकते। शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन शक्तिमें ही होता है। क्योंकि शक्तिका विकसित रूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा एक-सा नहीं रहता। शक्तिकी इस अनेकरूपताके कारण ही संसार परिवर्तनशील है।

साथ ही यह भी स्मरण रहे कि शक्ति शक्तिमान्से पृथक् न होनेके कारण संसाररूपसे व्यक्त होनेवाला उस शक्तिका यह खेल वस्तुतः परमात्माका अपना ऐश्वर्य ही है। भगवान्के ऐश्वर्यके सिवा जगत्में किसी भी भिन्न वस्तुकी सत्ता नहीं है। यह सब प्रभुकी लीलाका ही विस्तार है। एक प्रभु ही अपनी शक्तिसे आप ही क्रीडा कर रहे हैं। इससे जगत्को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी सत्य ही है।

परमात्माके दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। असलमें एकके ही दो नाम हैं। जब शक्ति बाहर रहती है तब परमात्मा सगुण हैं और जब वह अन्तःपुरमें प्रविष्ट रहती है तब परमात्मा

निर्गुण हैं। इसीलिये परमात्मामें परस्पर विरोधी गुणोंका सामञ्जस्य माना गया है। वे सदा सगुण होते हुए ही नित्य-निर्गुण हैं और नित्य-निर्गुण होते हुए ही सदा सगुण हैं। गुणमयी प्रकृतिमें परमात्माकी इच्छा बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। प्रकृतिका अस्तित्वतक परमात्माकी इच्छासे व्यक्त होता है। नहीं तो वह सदा उनमें विलीन ही रहती है और जिस समय वह जाग्रत् होती है, उस समय भी उनके सर्वथा अधीन ही रहती है। इसलिये परमात्मा शक्तियुक्त—सविशेष होते हुए भी निर्गुण-निर्विशेष हैं, क्योंकि गुणोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं है।

इसी प्रकार परमात्मापर गुणोंका कोई प्रभाव न रहनेपर भी इन्हींके प्रभावसे शक्ति जागृत होकर विविध खेल रचती है और संसारका नियमित संचालन करती है। इससे ये निर्गुण-निर्विशेष होते हुए सदा सगुण-सविशेष हैं। इस प्रकार युगपत् उभय भावयुक्त सर्वगुणसम्पन्न गुणातीत विज्ञानानन्दघन लीलामय नटनागरका नाम ही परमात्मा है। असलमें परमात्माका रहस्य परमात्मा ही जानते हैं। वे मायावाद, परिणामवाद, सगुण, निर्गुण आदि किसी भी वाद या भावकी सीमामें आबद्ध नहीं हैं। वे सब कुछ हैं, सबमें हैं और सबसे परे हैं। वे ही वे हैं। वस्तुतः परमात्मा सर्वथा अनिर्वचनीय तत्त्व हैं। वाणीके द्वारा उनका जो कुछ वर्णन होता है सो तो केवल लक्ष्य करानेके लिये होता है और वाणीमें आनेवाला स्वरूप असली स्वरूपसे बहुत ही स्थूल है, परंतु किसी भी बहाने उनकी चर्चा होनेके लोभसे ही ये पंक्तियाँ लिखी जाती हैं। अस्तु !

परमात्माकी शक्तिको विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जब उससे परमात्मा अपना कार्य करते हैं तब उसका नाम विद्या है। विद्या परमात्माकी सेविका है, जीव और परमात्माका सम्बन्ध जोड़ देनेवाली निर्मल सूत्रिका है। इस विद्याके द्वारा ही बिछुड़ोंका नित्यमिलन और जीवरूप पत्नीके साथ परमात्मारूप पतिका गँठजोड़ा होता है, जिससे आगे चलकर दोनों घुल-मिलकर सम्पूर्णरूपसे एक हो जाते हैं। जीवको मोहित करके उसे परमात्मासे अलग रखनेवालीका नाम अविद्या है। इस अविद्याके मोहसे छूटनेके लिये इसीके दूसरे निर्मल स्वरूप विद्याकी शरण लेनी पड़ती है। (क्रमशः)

श्रद्धावान् ही अव्यक्त ब्रह्मके ज्ञानको प्राप्त कर सकता है

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद संत श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

यह प्राणी श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसे वैसा ही फल भी मिलता है। सभी जानते हैं—मूर्ति पत्थरकी होती है, किंतु श्रद्धालु भक्त उसीमें भगवान्‌का साक्षात् करते हैं। नारी-जाति सभी एक-सी है, किंतु जिसमें मातृभावना हो गयी है, मातृवत् श्रद्धा हो गयी है, उसमें भोग-बुद्धिकी कल्पना ही नहीं होती। एक ही वस्तु है, श्रद्धाभेदसे उसके भिन्न-भिन्न रूपादि होते हैं और श्रद्धाके अनुसार उनके फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

एक महात्मा थे, वे गङ्गा-किनारे रहते थे। उनका एक शिष्य था, वह उनके उपदेशसे नित्य ही गङ्गाजीके जलपर पैरोंके द्वारा चलकर इधर आ जाता था। एक दूसरा भी शिष्य था, वह पार नहीं जा सकता था। एक बार दूसरे शिष्यने कहा—'गुरुदेव ! मुझे भी ऐसा मन्त्र बता दें, जिससे मैं भी गङ्गाजीके जलपर इस पारसे उस पार चला जाया करूँ।'

गुरुजीने एक मन्त्र लिखकर उसके हाथमें बाँध दिया और कह दिया—'अब तू निर्भय होकर जलके ऊपर चला जा।'

गुरुजीके वचनोंपर विश्वास करके वह यथार्थमें पानीके ऊपर चला गया। जब वह उस पार पहुँचने ही वाला था, तब उसे जिज्ञासा हुई, देखें तो सही इसमें कौन-सा मन्त्र है। यह विचारकर उसने हाथमें बँधा मन्त्र खोला। उसमें केवल राम लिखा था। उसने आश्चर्यके साथ कहा—'अरे ! बस, इस छोटेसे ही मन्त्रमें ऐसी शक्ति है। 'राम-राम' तो सभी कहते रहते हैं, वे लोग तो पार नहीं जा सकते।'

बस, इतना सोचना था कि वह जलमें डूब गया और मर गया। तभी तो कहा—

राम राम सब कोइ कहत, ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझत नहीं, नटवर नन्द किशोर॥

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! जब अर्जुनने इस गुह्यज्ञानके अधिकारीके सम्बन्धमें जिज्ञासा की, तो भगवान्‌ने

कहा—'अर्जुन ! तुम बड़े बलवान् हो। तुम अपने बाहरी कौरवादि शत्रुओंको तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन भीतरी शत्रुओंको भी दमन करनेमें समर्थ हो। मैं तुमसे रहस्यकी बात कहता हूँ। मेरे इस गुह्यज्ञानको श्रद्धावान् पुरुष ही धारण करके संसार-सागरसे पार हो सकते हैं। श्रद्धालु साधक ही मृत्युपर विजय प्राप्त कर सकते हैं।'

अर्जुनने पूछा—'प्रभो ! यदि आपके इस आत्मज्ञानरूप धर्ममें जिन्हें श्रद्धा न हो, उनकी कौन गति होगी ?'

भगवान्‌ने कहा—'ये अश्रद्धावान् पुरुष इस धर्ममें श्रद्धा न रखनेके कारण मुझे प्राप्त न करके भटकते रहते हैं।'

अर्जुनने पूछा—'कहाँ भटकते रहते हैं भगवन् ?'

भगवान्‌ने कहा—'मृत्यु-रूप संसार-मार्गमें भटकते रहते हैं। अर्थात् जन्म-मरणकी परम्परामें प्राप्त होकर उच्च तथा नीच योनियोंमें बार-बार जन्मते रहते हैं और बार-बार मरते रहते हैं।'

अर्जुनने पूछा—'कैसा है वह आपका गुह्यज्ञान स्वामिन् !'

भगवान्‌ने कहा—'मेरे स्वरूपका यथार्थ ज्ञान जिससे हो जाय वही यह गुह्यज्ञान है।'

अर्जुनने पूछा—'कैसा है आपका यथार्थ स्वरूप ?'

भगवान्‌ने कहा—'मैं अव्यक्त हूँ, मुझ अव्यक्त-रूप परमतत्त्वमें यह सम्पूर्ण व्यक्त जगत् व्याप्त है। ये समस्त प्राणी मेरेमें स्थित हैं।'

अर्जुनने पूछा—'जैसे वृक्षमें बीज हैं और बीजमें सम्पूर्ण वृक्ष व्याप्त है। इसी प्रकार जब सब भूत आपमें स्थित हैं, तो आप भी उनमें स्थित होंगे ?'

भगवान्‌ने कहा—'सो बात नहीं। सब भूत मेरेमें अवस्थित अवश्य हैं, किंतु मैं उन सबसे सर्वथा पृथक् हूँ, जैसे गन्ध वायुमें व्याप्त है, किंतु वायु गन्धसे सर्वथा पृथक् है। जैसे वायु आकाशमें व्याप्त है, किंतु आकाश वायुसे सर्वथा पृथक् तथा निर्लेप है। जैसे कमलकी जड़में, नालमें, फूलमें पत्तोंमें जल व्याप्त है, किंतु जल कमलसे सर्वथा पृथक् है। कमलका तो जलके बिना अस्तित्व ही नहीं रह सकता। किंतु जल कमलके बिना भी ज्यों-का-त्यों ही बना रहेगा। कहीं कोई वस्तु सड़ रही है, उसकी दुर्गन्ध फैल रही है, लोग कहते हैं, वायु बड़ी दुर्गन्धयुक्त है। वास्तवमें वह दुर्गन्ध वायुमें नहीं है। वायु चलता रहता है, फिर वायुसे दुर्गन्ध प्रतीत नहीं होती। आगे सुगन्धित पुष्प खिल रहे हैं, लोग कहते हैं, कैसा सुगन्धित वायु है, किंतु आगे चलकर वायुमें सुगन्धि भी नहीं रहती। जैसे वायु दुर्गन्ध-सुगन्धसे सदा अलिप्त है ऐसे ही मैं अव्यक्त इस चराचर-जगत्‌से सर्वदा निर्लिप्त हूँ। मुझमें सब स्थित होनेपर भी मैं इनमें स्थित नहीं हूँ।'

अर्जुनने कहा—'भगवन् ! यह तो बड़ा चमत्कार है, आपमें तो समस्त भूत अवस्थित हैं, किंतु आप उनसे असम्बद्ध कैसे रह सकते हैं ?'

भगवान्‌ने कहा—'यही तो मेरा ईश्वरी प्रभाव है। यही तो मेरे योगका ऐश्वर्य है।'

उद्बोधन

अरे ओ युवको ! जबतक तुम्हारा यह शरीर नूतन और स्वस्थ है, जबतक तुम्हारी इन्द्रियोंकी शक्तियाँ कम नहीं हुई हैं, जबतक आयु शेष नहीं हुई है और जबतक वृद्धावस्था तुमसे बहुत दूर तुम्हारी ताकमें खड़ी है, इसके पहले ही अपनी आत्माके कल्याणका प्रयत्न कर लो, नहीं तो घरमें आग लगनेपर कुँआ खोदनेकी बात सोचनी बेसमझी कही जायगी। इसलिये अभीसे आत्मकल्याणके लिये सावधान हो जा। आत्माके कल्याणका अर्थ सदाके लिये दुःखोंसे निवृत्त होनेसे है। जैसे छोटा बच्चा मिर्च, बड़ा आदि चीजें खाते समय यह नहीं सोचता कि थोड़ी देरके बाद इसका क्या परिणाम होगा ? ऐसे ही साधारण लोग भी व्यापार और व्यवहार करते हुए वर्तमानके सुख तो देखते हैं, पर आगेके परिणामपर ध्यान ही नहीं देते। वे यह नहीं जानते कि लोभ और लाभके लिये महान् दुःख हँसते-हँसते पैदा कर ले रहे हैं। बुद्धिमान् वही है जो वर्तमान जीवन और आगेके जन्मोंमें दुःख न भोगना पड़े, ऐसा ही व्यापार, व्यवहार तथा आचरण करे।

साधकोंके प्रति—

उद्देश्यकी महत्ता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें उद्देश्यका महत्त्व पंद्रह आना, भावका महत्त्व तीन पैसा और क्रियाका महत्त्व एक पैसा है। परंतु आजकल साधकोंकी दृष्टि प्रायः क्रियापर ही है, भावपर नहीं है और उद्देश्यपर तो है ही नहीं! अतः उद्देश्यकी महत्तापर विचार किया जाता है।

हमारे जीवनभरका लक्ष्य क्या है? हमें किसको प्राप्त करना है? किस तत्त्वको जानना है? किसको पहचानना है? किसका साक्षात्कार करना है? ऐसा विचार होनेपर मनुष्यका यह उद्देश्य होगा कि हमें केवल परमात्माको प्राप्त करना है, परमात्मतत्त्वको जानना है, परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचानना है, परमात्माका साक्षात्कार करना है। कारण कि वही नित्य-निरन्तर रहनेवाला है, दूसरा कोई नित्य-निरन्तर रहनेवाला नहीं है। संसारका विषय मिले या न मिले, रोटी मिले या न मिले, कपड़ा मिले या न मिले, नींद आये या न आये, आराम मिले या न मिले, मान हो जाय या अपमान हो जाय, प्रशंसा हो जाय या निन्दा हो जाय, हमें इनसे कोई मतलब नहीं है; हमें तो केवल परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(भर्तृहरिनीतिशतक)

'नीति-निपुणलोग निन्दा करें अथवा स्तुति, लक्ष्मी रहे अथवा जहाँ चाहे चली जाय और मृत्यु आज ही हो जाय अथवा युगान्तरमें, अपने उद्देश्यपर दृढ़ रहनेवाले धीर पुरुष न्यायपथसे एक पग भी पीछे नहीं हटते।'

इस प्रकार जिसका एकमात्र उद्देश्य, ध्येय, लक्ष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेका बन गया है, वह हरेक जगह टिक नहीं सकेगा। जहाँ रुपये मिलते नहीं, प्रत्युत खर्च होते हैं, वहाँ क्या रुपयोंका लोभी टिक सकता है? जिसका परमात्मप्राप्तिका असली उद्देश्य है, उसको क्या सुन्दर बातें सुनाकर कोई भ्रमित कर सकता है? परमात्मतत्त्व क्या है? मेरा स्वरूप क्या है? जगत्‌का स्वरूप क्या है?—ऐसी जिसकी जोरदार जिज्ञासा है, वह हरेक कथामें, हरेक व्याख्यानमें टिक नहीं सकता। उसमें ताकत ही नहीं है कि वहाँ ठहर जाय। अगर ठहर जाता है तो उसका उद्देश्य अभी बना ही नहीं है, चाहे वह कितना ही ऊँचा पण्डित क्यों न हो!

हमें केवल परमात्माको प्राप्त करना है—यह उद्देश्य ऐसा है, जो अकेला पंद्रह आना कीमत रखता है। भाव तो बदलता रहता है। कभी अच्छा भाव होता है, कभी खराब भाव होता है। कभी सात्त्विक भाव होता है, कभी राजस अथवा तामस भाव होता है। परंतु उद्देश्य कभी नहीं बदलता। अगर बदलता है तो अभी उद्देश्य बना ही नहीं है अथवा अपने वास्तविक उद्देश्यको पहचाना ही नहीं है।

उद्देश्य मनुष्यकी प्रतिष्ठा है। जिसका कोई उद्देश्य नहीं है, वह वास्तवमें मनुष्य ही नहीं है। वर्तमानमें अनेक बड़े-बड़े स्कूल और कालेज हैं, जिनमें लाखों विद्यार्थी पढ़ते हैं; परंतु विद्यार्थीको क्यों पढ़ाया जाता है? पढ़ाई क्यों करनी चाहिये?—इसका अभीतक कोई एक उद्देश्य नहीं बना है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि पढ़ाई करते हैं, पर अपने उद्देश्यको जानते ही नहीं!

वास्तवमें उद्देश्य बनानेकी अपेक्षा उद्देश्यको पहचानना श्रेष्ठ है। यह मनुष्यशरीर हमने अपनी इच्छासे नहीं लिया है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही यह मनुष्यशरीर दिया है *। इस उद्देश्यके कारण ही मनुष्यशरीरकी महिमा है, अन्यथा पञ्चमहाभूतोंसे बने हुए इस शरीरकी कोई महिमा नहीं

* कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस ७।४४।३)
'एहि तन कर फल बिषय न भाई' (मानस ७।४४।१); 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' (मानस ७।४३।४)।

है। शरीर तो मल-मूत्र बनानेकी एक फैक्ट्री है। भगवान्‌के भोग लगी हुई बढ़िया-से-बढ़िया मिठाई इस मशीनमें दे दो तो वह विष्ठा बन जायगी ! गङ्गाजीका, यमुनाजीका महान् पवित्र जल इस फैक्ट्रीमें दे दो तो वह मूत्र बन जायगा। जो ऐसी गंदी-से-गंदी चीज पैदा करनेकी मशीन है, उस शरीरकी कोई महिमा नहीं है *। महिमा वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके उद्देश्यकी है। यह उद्देश्य ही वास्तवमें मनुष्यता है †। अतः भगवान्‌ने जिस उद्देश्यसे जीवको मनुष्यशरीर दिया है, उस उद्देश्यको पहचानना है। तात्पर्य यह हुआ कि उद्देश्य पहले बना है, शरीर पीछे मिला है। जैसे, बद्रीनारायण जानेका उद्देश्य पहले बनता है, यात्रा पीछे होती है। अतः उद्देश्यको पहचानना है, बनाना नहीं है। उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये भगवान्‌ने मनुष्यमात्रको योग्यता दी है, अधिकार दिया है, विवेक दिया है। अतः मनुष्यमात्र परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकारी है। धनके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं, मान-बड़ाईके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं, नीरोगताके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं, सौ वर्षतक जीनेके सब बराबर अधिकारी नहीं हैं; परंतु परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके सब-के-सब बराबर अधिकारी हैं ! जो बिलकुल अपढ़ है, जिसमें न विवेक-वैराग्य है, न षट्सम्पत्ति है, न मुमुक्षुता है, न श्रवण-मनन-निदिध्यासन है, पर परमात्मतत्त्वको जाननेकी तीव्र जिज्ञासा है अथवा जो संसारसे ऊब गया है, जिसको संसार दुःखरूप दीखता है, वह भी परमात्मतत्त्वको जान सकता है ! इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—**'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'** (गीता २। २९) 'इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता।' तात्पर्य है कि पढ़ाई करके, उद्योग करके, परिश्रम करके कोई इस तत्त्वको जान जाय—यह असम्भव बात है। जैसे, करोड़पति आदमीके पास कस्तूरी नहीं मिलती; क्योंकि उसने खरीदी ही नहीं। परंतु जंगली आदमीके पास भी कस्तूरी मिल जाती है; क्योंकि उसने कस्तूरीमृगसे कस्तूरी निकाल ली। ऐसे ही तत्त्वकी प्राप्ति साधारण-से-साधारण आदमीको भी (तीव्र जिज्ञासा होनेपर) बहुत सुगमतासे हो सकती है।

जैसे, एक पहाड़ीपर मन्दिर है। उस मन्दिरमें जानेका उद्देश्य होनेपर यात्री सड़कके मार्गसे चलते-चलते मन्दिरतक पहुँच जाता है; परंतु जंगली आदमी सड़कके मार्गसे न जाकर सीधे ही उस पहाड़ीपर चढ़कर मन्दिरतक पहुँच जाता है। ऐसे ही श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि साधन करनेवालोंको तत्त्वकी प्राप्ति जल्दी नहीं होती, पर तत्त्वप्राप्तिका दृढ़ उद्देश्य होनेसे साधारण मनुष्यको भी तत्त्वकी प्राप्ति जल्दी हो सकती है। तात्पर्य है कि उद्देश्यमें जो शक्ति है, वह साधनोंमें नहीं है। अतः जिसका खुदका उद्देश्य बन गया है कि अब मेरेको परमात्मप्राप्ति ही करनी है, वही परमात्मप्राप्ति कर सकता है। अगर खुदका उद्देश्य नहीं बना है तो कितनी ही पढ़ाई कर लो, ध्यान कर लो, समाधि लगा लो, पर परमात्मप्राप्ति नहीं हो सकती। कारण कि पढ़ाई करना, साधन करना मुख्य नहीं है, प्रत्युत उद्देश्य मुख्य है। उद्देश्यका जो महत्त्व है, वह समाधिका भी नहीं है।

क्रियाका महत्त्व केवल एक पैसा है। जप, ध्यान, स्नान, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि करनेमात्रसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। टेपरिकार्डर आठ पहरतक नामजप कर सकता है, पर उसको तत्त्वप्राप्ति नहीं हो जाती ! तत्त्वप्राप्ति उसीको होती है, जिसके भीतर तत्त्वप्राप्तिका भाव (उद्देश्य) होता है। मेहतर झाड़ू देता है, पर उसका उद्देश्य सबकी सेवा करनेका, सबका दुःख दूर करनेका है तो उसको तत्त्वप्राप्ति हो जायगी। जो बिलकुल मूर्ख है, कुछ नहीं जानता, वह भी अगर दृढ़तासे मान ले कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं' तो उसको वही तत्त्व मिलेगा, जो ऊँचे-से-ऊँचे संत-महात्माको मिलता है। अतः साधक एक उद्देश्य बना ले कि मेरेको वह तत्त्व ही प्राप्त करना है। उसके सिवा मेरेको और कुछ करना, जानना तथा पाना नहीं है। ऐसा जिसका उद्देश्य बन जायगा, वह फिर किसी लोभसे

---

* छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
(मानस ४। ११। २)

† नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
(मानस ७। १२१। ५)

अथवा किसी भयसे विचलित नहीं किया जा सकता। जैसे समुद्रमें कौआ उड़ते-उड़ते वहीं आकर बैठता है, जहाँ जहाज होता है। जहाँ पानी-ही-पानी भरा हो, वहाँ बैठनेकी उसमें ताकत ही नहीं है; क्योंकि वहाँ बैठेगा तो डूब जायगा! ऐसे ही जिसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य बन गया है, वह जगह-जगह भटकेगा नहीं, प्रत्युत जहाँ उसको तत्त्वप्राप्तिकी बात मिलेगी, वहीं टिकेगा।

प्रश्न—मुमुक्षा और उद्देश्यमें क्या अन्तर है?

उत्तर—मुमुक्षामें बन्धनसे मुक्त होने (छूटने) की इच्छा होती है और उद्देश्यमें तत्त्वको जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) होती है। मुमुक्षामें बन्धनका दुःख प्रधान है और जिज्ञासामें विवेक प्रधान है। मुमुक्षा हरेक प्राणीमें होती है। एक कुत्तेको रस्सीसे बाँध दें तो उसमें भी मुमुक्षा होती है कि मैं इस बन्धनसे छूट जाऊँ; परंतु उसमें जिज्ञासा नहीं होती।

प्रश्न—भाव और उद्देश्यमें क्या अन्तर है?

उत्तर—भाव दो प्रकारके हैं—बदलनेवाला भाव और न बदलनेवाला (स्थायी) भाव। बदलनेवाला भाव अन्तःकरणका होता है और स्थायी भाव स्वयंका होता है। अन्तःकरणके (बदलनेवाले) भावका महत्त्व तीन पैसा बताया गया है। परंतु स्थायी भाव और उद्देश्य—दोनों समान महत्त्ववाले हैं। दोनोंमें अन्तर केवल इतना है कि स्थायी भाव (भगवान्‌में अपनापनका भाव) भक्तियोगका ही होता है; परंतु उद्देश्य कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंका हो सकता है।

जपयोगकी वैज्ञानिक महत्ता

(महामहोपाध्याय डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, वागीश, शास्त्री)

जीवात्मा परमात्मा परब्रह्मका अंश है। इसे सभी आस्तिक दर्शन एकमतसे स्वीकार करते हैं। परमात्मा परब्रह्मका स्वभाव है—सत्-चित्-आनन्द-घन रहना। सद्घनका तात्पर्य है त्रिकालाबाधित सत्ता। चराचर-जगत्‌में दृश्यमान समस्त पदार्थ त्रिकालबाधित ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (८। १६)में तो ब्रह्मा तकके पदको भी त्रिकालबाधित बताया गया है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं।'

एतदर्थ यदि उसे तथा चित्तत्त्वको तावत्कालपर्यन्त त्रिकालाबाधित मान भी लिया जाय तो भी आनन्दघनताका सामरस्य तो जीवात्मामें कथमपि परिलक्षित नहीं होता। इसी आनन्दकी सम्प्राप्तिके लिये जीवात्मा प्रारम्भसे अन्ततक प्रयत्नशील रहता है। दृश्यमान सभी पदार्थ प्रकृतिके अन्तर्गत होनेके कारण परिवर्तनशील माने जाते हैं। अतः सुखका दुःखमें परिवर्तित होना तथा दुःखका सुखमें परिवर्तित होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इस द्वैतभावावस्थाका नाम ही द्वन्द्व है। इसी प्रकार ज्ञान-अज्ञान, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात्रि, लाभ-अलाभ इत्यादि सभी द्वन्द्वोंके अन्तर्गत परिगृहीत हैं। इसलिये इनकी सामरस्य-अवस्था नहीं बन पाती। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आनन्दकी स्थितिमें रह फलाशाका परित्याग कर नियत कार्य करनेसे जीवात्मा दुःखरूपी पापके फंदेमें नहीं पड़ता—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

सुखका द्वन्द्व दुःख है, परंतु विशुद्ध शान्ति या आनन्दका कोई द्वन्द्व प्राप्त नहीं होता। उसे ही निर्वाण कहा गया है—**'शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।'** जीवात्माकी कभी ऐसी स्थिति बनती ही है जिसमें वह अपने अंशी परमात्माके आनन्दकी किंचित् झलक पा लेता है। किंतु वह जागतिक सुखकी भाँति उसकी पकड़में नहीं आ पाता। कारण, जन्म-जन्मान्तरोंकी दुर्वासनाओंका अभ्यास उसके आशयमें संचित रहता है। इससे उसे शुद्ध ज्ञान न होकर मोहका कुचक्र घेर लेता है और परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता। ये वासनाएँ रागकी जननी हैं और यही राग द्वन्द्वोंको समुत्पन्न करनेमें कारण बनता है।

सभी प्राणियोंके हृदयगुहाके अन्तर्गत परमात्मा स्थित हैं—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** ऋग्वेदमें जीव और ईश्वरका साहचर्य दो पक्षियोंके रूपकके द्वारा समझाया गया है, जो एक ही वृक्षपर निवास करते हैं। उनमेंसे एक तो फलोंका आस्वाद लेता है, परंतु दूसरा आस्वाद न लेता हुआ भी नित्य प्रकाशसे युक्त बना रहता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

(ऋग्वेद १।१६४।२०)

अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर परमात्माका चिन्तन होने लगता है और वासना-जाल नष्ट हो जाता है। सभी पुण्य-कर्मोंका लक्ष्य वासनाओंके क्षयद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि एवं परमात्माका चिन्तन और ध्यान ही मुख्य लक्ष्य है।

इसका सबसे सरल साधन है—मन्त्रयोग या भगवन्नामका जप। यह स्थूल मन्त्र सूक्ष्म शब्द-तत्त्वमें परिवर्तित होता हुआ वाङ्मनसातीत-अवस्थामें विराजमान उस परम प्रभु परमात्माकी शरणमें पहुँचानेकी सामर्थ्य रखता है। **'मननात् त्रायते इति मन्त्रः'** इस शब्द-समूह-शक्तिके मननसे प्राणीको त्राण मिलता है। इस शब्द-शक्ति-समूहके मननके उपायको जप कहा जाता है।

पाणिनीय धातुपाठमें जप धातुका अर्थ है—**'व्यक्तायां वाचि मानसे च।'** अर्थात् वाणीसे स्पष्ट उच्चारण करना तथा वाणीको छानते हुए शब्दको सूक्ष्म बनाकर मनद्वारा उच्चारण करना। ऐसा करनेपर ही वह शब्दसमूह मन्त्रका रूप धारण करता है। इसी दृष्टिसे जपके तीन स्वरूप बताये गये हैं—

(१) स्थूलरूपसे शब्द-समूहका इस प्रकार उच्चारण करना, जिससे उसका श्रोत्रेन्द्रियसे साक्षात्कार हो सके।

(२) शब्द-समूहका इस प्रकार उच्चारण करना कि ओष्ठोंमें स्पन्दन तो प्रतीत हो, किंतु शब्द श्रुति-गोचर न हो सके। इस प्रकारके जपको भगवान् मनुने उपांशु संज्ञा दी है।

(३) तीसरे प्रकारके जपको मानस या मानसिक जप कहा है। इसमें वाणी सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होती हुई भी मणिपूर-चक्र-स्थित पश्यन्तीमें परिवर्तित हो जाती है। अपरा विद्याओंके द्रष्टा मुनि इसीमें ध्यानद्वारा अवस्थित होकर दिव्य वाणीसे जगत्का उपकार करते हैं। इससे भी सूक्ष्म परा वाक्में स्थित होकर ऋषि ऋचाओंका दर्शन प्राप्त करते हैं।

सच्चिदानन्दघनताकी स्थिति

योगसूत्रमें जपकी प्रक्रियाका संकेतमात्र किया गया है। **'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'** उस परब्रह्म परमात्माका नामोच्चारण करते हुए उनके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। नाम-जपके द्वारा स्वात्मानुसंधान एवं परमात्मानुसंधानकी स्थिति बननेपर प्राणी जीवितावस्थामें ही द्वन्द्वात्मक स्थितियोंसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है और उसकी सच्चिदानन्दघनताकी स्थिति बनती है।

जपयोग परमात्मप्राप्तिका सर्वोत्तम सुलभ साधन

इस नामोच्चारणकी प्रक्रियाको भगवान् श्रीकृष्णने इसीलिये बड़ा महत्त्व प्रदान किया है; क्योंकि परब्रह्म परमात्माका सांनिध्य प्राप्त करनेके लिये यह प्राणिमात्रोपकारक सर्वोत्तम एवं सर्वसुलभ साधन है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने जपको प्रचुर द्रव्य-साध्य यज्ञोंसे भी श्रेष्ठ घोषित किया है और जपयज्ञको अपनी विभूति बताया है—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।'** जपके माध्यमसे साधककी वासनाओंका वैश्वानर-वह्निमें हवन हो जाता है। वस्तुतः जपयज्ञ अत्यन्त गूढ़ विषय है।

तत्त्वदर्शी सद्गुरुके संनिधानमें प्रणत-भावसे उपस्थित होकर मन्त्र-दीक्षा प्राप्त करनेसे जीवात्माको जपकी प्रक्रिया ज्ञात होती है और शक्तिपातपूर्वक परमात्मा परब्रह्मके—परमानन्दके परमास्वादका वह अधिकारी बन जाता है।

तुलसीदासजीने लिखा है कि भगवन्नाम सर्वोपरि कल्पवृक्ष और कामधेनुके तुल्य है। यह शीघ्र ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको तत्काल दे देता है—ऐसा भगवान् शङ्कर, सभी वेदशास्त्र, संत, विद्वान् एवं सभी पुराण भी कहते हैं—

राम नाम काम तरु देत फल चारि रे।
कहत पुरान बेद पंडित पुरारि रे॥

जो भगवन्नाम-जप नहीं करते, वे सबसे भाग्यहीन हैं और जो भगवन्नाम-जप करते हैं, वे ही भूत, भविष्य एवं वर्तमानमें सबसे भाग्यशाली हैं और होंगे—

राम नाम गति राम नाम मति राम नाम अनुरागी।
होइगे हैं जे होहिं गे त्रिभुवन तेइ गनियत बड़भागी॥

वे तीनों लोकोंमें सभी प्रकार प्रशंसनीय होते हैं। यह बात सर्वथा सत्य है। कोई महिमा बढ़ानेके लिये रोचकताका प्रयोग नहीं हुआ है। जिसे नामका रस लग जाता है, उसके लिये संसारके सभी रस नीरस प्रतीत होकर नष्ट हो जाते हैं, वस्तुतः विश्वके सभी भोग उनके लिये श्वानके उपान्तकी तरह घृणित प्रतीत होने लगते हैं। अतः नित्य कल्याणमय और अत्यन्त कल्याणमय भगवन्नाम ही है। राग-द्वेष आदिके वर्धक ऐश्वर्यादि परम अमङ्गलकारी हैं। मङ्गलभवन तो भगवन्नाम ही है—'***मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥***'का यही भाव है।

भक्त-गाथा—

भक्त सुव्रत

सोमशर्मा नामक एक सुशील ब्राह्मण थे। उनकी पत्नीका नाम सुमना था। सुव्रत उन्हींके सुपुत्र थे। भगवान्‌की कृपासे ही ब्राह्मण-दम्पतिको ऐसा भागवत पुत्र प्राप्त हुआ था। पुत्रके साथ ही ब्राह्मणका घर ऐश्वर्यसे पूर्ण हो गया था। सुव्रत पूर्वजन्ममें धर्माङ्गद नामक भक्त राजकुमार थे। पिताके सुखके लिये उन्होंने अपना मस्तक दे दिया था। पूर्वजन्मके अभ्यासवश लड़कपनमें ही वे भगवान्‌का चिन्तन और ध्यान करने लगे थे। वे जब बालकोंके साथ खेलते तब अपने साथी बालकोंको भगवान्‌के ही 'हरि, गोविन्द, मुकुन्द, माधव' आदि नामोंसे पुकारते। उन्होंने अपने सभी मित्रोंके नाम भगवान्‌के नामानुसार ही रख लिये थे। वे कहते—भैया केशव, माधव, चक्रधर आओ-आओ! पुरुषोत्तम आओ! हमलोग खेलें। मधुसूदन मेरे साथ चलो। खेलते-खाते, पढ़ते-लिखते, हँसते-बोलते, सोते-जागते, खाते-पीते, देखते-सुनते सभी समय वे भगवान्‌को ही अपने सामने देखते। घर-बाहर, सवारीपर, ध्यानमें, ज्ञानमें—सभी कर्मोंमें सब जगह उन्हें भगवान्‌के दर्शन होते और वे उन्हींको पुकारा करते। तृण, काष्ठ, पत्थर तथा सूखे-गीले सभी पदार्थोंमें वे पद्मपलाश-लोचन गोविन्दकी झाँकी करते। जल-थल, आकाश-पृथ्वी, पहाड़-वन, जड-चेतन—जीवमात्रमें वे भगवान्‌के सुन्दर मुखारविन्दकी छवि देख-देखकर निहाल होते। लड़कपनमें ही वे गाना सीख गये थे और प्रतिदिन ताल-लयके साथ मधुर स्वरसे भगवान्‌के गुण गा-गाकर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम बढ़ाते। उनके गीतके भाव इस प्रकार होते—

'वेदके जाननेवाले लोग निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं, जिनके एक अङ्गमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं, जो सारे पापोंका नाश करनेवाले हैं, मैं उन योगेश्वरेश्वर मधुसूदन भगवान्‌की शरण हूँ। जो सब लोकोंके स्वामी हैं, जिनमें सब लोक निवास करते हैं, मैं उन सर्वदोषरहित परमेश्वरके चरणकमलोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ। जो समस्त दिव्यगुणोंके भण्डार हैं, अनन्त शक्ति हैं, इस अगाध अनन्त संसारसागरसे तरनेके लिये मैं उन श्रीनारायणदेवकी शरण ग्रहण करता हूँ। जो योगिराजोंके मानसरोवरके राजहंस हैं, जिनका प्रभाव और माहात्म्य सदा और सर्वत्र विस्तृत है, उन असुरोंके नाश करनेवाले भगवान्‌के विशुद्ध, विशाल चरणकमल मुझ दीनकी रक्षा करें। जो दुःखके अँधेरेको नाश करनेके लिये चन्द्रमा हैं, जिन्होंने लोक-कल्याणको अपना धर्म बना रखा है, जो समस्त ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं, उन सत्यस्वरूप सुरेश्वर जगद्गुरु भगवान्‌का मैं ध्यान करता हूँ। जिनका स्मरण ज्ञानकमलके विकासके लिये सूर्यके समान है, जो समस्त भुवनोंके एकमात्र आराध्यदेव हैं, मैं उन महान् महिमान्वित आनन्दकन्द भगवान्‌के दिव्य गुणोंका ताल-स्वरके साथ गायन करता हूँ। मैं उन पूर्णामृतस्वरूप सकल कलानिधि भगवान्‌का अनन्य प्रेमके साथ गायन करता हूँ। पापी जीव जिनका दर्शन नहीं कर सकते, मैं सदा-सर्वदा उन भगवान् केशवके ही शरणमें पड़ा हूँ।'

इस प्रकार गायन करते हुए सुव्रत हाथोंसे ताली बजा-बजाकर नाचते और बच्चोंके साथ आनन्द लूटते। उनका नित्यका यही खेल था। वे इस तरह भगवान्‌के ध्यानमें मस्त हुए बच्चोंके साथ खेलते रहते। खाने-पीनेकी कुछ भी सुध नहीं रहती। तब माता सुमना पुकारकर कहती—'बेटा! तुम्हें भूख लगी होगी, देखो, भूखके मारे तुम्हारा मुख कुम्हला रहा है, आओ, जल्दी आओ, कुछ खा जाओ।' माताकी बात सुनकर सुव्रत कहते—'माँ! श्रीहरिके ध्यानमें जो अमृतरस झरता है, मैं उसीको पी-पीकर तृप्त हो रहा हूँ।' जब माँ बुला लाती और वे खानेको बैठते, तब मधुर अन्नको देखकर कहते—'यह

अन्न भगवान् ही है, आत्मा अन्नके आश्रित है। आत्मा भी तो भगवान् ही है। इस अन्नरूपी भगवान्से आत्मारूप भगवान् तृप्त हों। जो सदा क्षीरसागरमें निवास करते हैं, वे भगवान् इस भगवत्स्वरूप जलसे तृप्त हों। ताम्बूल, चन्दन और इन मनोहर सुगन्धयुक्त पुष्पोंसे सर्वात्मा भगवान् तृप्त हों।' धर्मात्मा सुव्रत जब सोते तब श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए कहते—'मैं योगनिद्रासम्पन्न श्रीकृष्णकी शरण हूँ।' इस प्रकार खाने-पहनने, बैठने-सोने आदि सभी कार्योंमें वे श्रीभगवान्का स्मरण करते और उन्हींको सब कुछ निवेदन करते। यह तो उनके लड़कपनका हाल है।

वे जब युवा हुए, तब सारे विषय-भोगोंका त्याग करके नर्मदाजीके दक्षिण तटपर वैदूर्य पर्वतपर चले गये और वहाँ भगवान्के ध्यानमें लग गये। यों तपस्या करते जब सौ वर्ष बीत गये, तब लक्ष्मीजीसहित श्रीभगवान् प्रकट हुए। बड़ी सुन्दर झाँकी थी। सुन्दर नील-श्याम शरीरपर दिव्य पीताम्बर और आभूषण शोभा पा रहे थे। तीन हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा सुशोभित थे। चौथे कर-कमलसे भगवान् अभयमुद्राके द्वारा भक्त सुव्रतको निर्भय कर रहे थे। उन्होंने कहा—'बेटा सुव्रत ! उठो, तुम्हारा कल्याण हो ! देखो ! मैं स्वयं श्रीकृष्ण तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ। उठो, वर ग्रहण करो।'

श्रीभगवान्की दिव्य वाणी सुनकर सुव्रतने आँखें खोलीं और अपने सामने दिव्य मूर्ति श्रीभगवान्को देखकर वे देखते ही रह गये। आनन्दके आवेशसे सारा शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंसे आनन्दाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। फिर वे हाथ जोड़कर बड़ी ही दीनताके साथ बोले—

'हे जनार्दन ! यह संसार-सागर बड़ा ही भयानक है। इसमें बड़े-बड़े दुःखोंकी भीषण लहरें उठ रही हैं, विविध मोहकी तरङ्गोंसे यह उछल रहा है। भगवन् ! मैं अपने दोषसे इस सागरमें पड़ा हूँ। मैं बहुत ही दीन हूँ। इस महासागरसे मुझको उबारिये। कर्मोंके काले-काले बादल गरज रहे हैं और दुःखोंकी मूसलधार वृष्टि कर रहे हैं। पापोंके संचयकी भयानक बिजली चमक रही है। हे मधुसूदन ! मोहके अँधेरेमें मैं अंधा हो गया हूँ। मुझको कुछ भी नहीं सूझता, मैं बड़ा ही दीन हूँ। आप अपने कर-कमलका सहारा देकर मुझे बचाइये। यह संसार बहुत बड़ा भयावना जंगल है। भाँति-भाँतिके असंख्य दुःख-वृक्षोंसे भरा है। मोहमय सिंह-बाघोंसे परिपूर्ण है। दावानल धधक रहा है। हे श्रीकृष्ण ! मेरा चित्त इसमें बहुत ही बुरी तरह जल रहा है, आप मेरी रक्षा कीजिये। यह बहुत पुराना संसार-वृक्ष करुणा और असंख्य दुःख-शाखाओं-से घिरा हुआ है। माया ही इसकी जड़ है। स्त्री-पुत्रादिमें आसक्ति ही इसके पत्ते हैं। हे मुरारे ! मैं इस वृक्षपर चढ़कर गिर पड़ा हूँ। मुझे बचाइये। भाँति-भाँतिके मोहमय दुःखोंकी भयानक आगसे मैं जला जा रहा हूँ। दिन-रात शोकमें डूबा रहता हूँ। मुझे इससे छुड़ाइये। अपने अनुग्रहरूप ज्ञानकी जलधारासे मुझे शान्ति प्रदान कीजिये। मेरे स्वामिन् ! यह संसाररूपी गहरी खाई बड़े भारी अँधेरेसे छायी है। मैं इसमें पड़कर बहुत ही डर रहा हूँ। इस दीनपर आप कृपा कीजिये। मैं इस संसारसे विरक्त होकर आपकी शरण आया हूँ। जो लोग अपने मनको निरन्तर बड़े प्रेमसे आपमें लगाये रखते हैं, जो आपका ध्यान करते हैं, वे आपको प्राप्त करते हैं। देवता और किन्नरगण आपके परम पवित्र श्रीचरणोंमें सिर झुकाकर सदा चिन्तन करते हैं। प्रभो ! मैं भी न तो दूसरेकी चर्चा करता हूँ, न सेवन करता हूँ और न तो चिन्तन ही करता हूँ। सदा आपके ही नाम-गुण-कीर्तन, भजन और स्मरणमें लगा रहता हूँ। मैं आपके श्रीचरणोंमें निरन्तर नमस्कार करता हूँ। श्रीकृष्ण ! मेरी मनःकामना पूरी कीजिये। मेरी समस्त पापराशि नष्ट हो जाय। मैं आपका दास हूँ, किंकर हूँ। ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं जब-जहाँ भी जन्म लूँ, सदा-सर्वदा आपके चरणकमलोंका ही चिन्तन करता रहूँ। श्रीकृष्ण ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे उत्तम वरदान दीजिये। हे देवाधिदेव ! मेरे माता और पिताके सहित मुझे अपने परम धाममें ले चलिये।'

इस प्रकार स्तुति करके सुव्रत चुप हो गये। तब भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'ऐसा ही होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और सुव्रतने अपने पिता सोमशर्मा और माता सुमनाके साथ सशरीर भगवान्के नित्य धामकी शुभ यात्रा की।

बोलो, भक्त और उनके भगवान्की जय !

साधन और साध्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

करणनिरपेक्ष साधन

[गताङ्क पृ० सं० ७५७ से आगे]

६. *कर्तापन-भोक्तापनका निषेध*

मात्र क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं। प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। वह किसी भी अवस्था (सर्ग-प्रलय, महासर्ग-महाप्रलय)में क्षणमात्र भी अक्रिय नहीं रहती। प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाको भगवान्‌ने गीतामें अनेक प्रकारसे बताया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं (१३।२९); सम्पूर्ण क्रियाएँ गुणोंके द्वारा होती हैं; अतः गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३।२७-२८; १४।२३); गुणोंके सिवा अन्य कोई कर्ता है ही नहीं (१४।१९); इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं (५।९); स्वभाव ही बरत रहा है (५।१४); सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिमें पाँच हेतु हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव (१८।१३-१४)। इस प्रकार क्रियाओंको चाहे प्रकृतिसे होनेवाली कहें, चाहे प्रकृतिके कार्य गुणोंसे होनेवाली कहें, चाहे इन्द्रियोंसे होनेवाली कहें, वास्तवमें एक ही बात है। एक ही बातको अलग-अलग प्रकारसे कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वयं (चेतन) किसी भी क्रियाका किंचिन्मात्र भी कर्ता नहीं है। जैसे प्रकृति कभी अक्रिय रहती ही नहीं, ऐसे ही स्वयंमें कभी क्रिया होती ही नहीं। परंतु जब स्वयं प्रकृतिके अंश अहम्‌के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है, तब वह स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मानने लगता है—

'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥'

(गीता ३।२७)

जैसे कोई मनुष्य चलती हुई रेलगाड़ीमें बैठा है, चल नहीं रहा है तो भी रेलगाड़ीके सम्बन्धसे वह अपनेको चलनेवाला मान लेता है और कहता है कि 'मैं जा रहा हूँ।' ऐसे ही स्वयं जब क्रियाशील प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध मानने लगता है, तब वह कर्ता न होते हुए भी अपनेको कर्ता मान लेता है। अपनेको कर्ता माननेसे वह प्रकृतिकी जिस क्रियासे सम्बन्ध जोड़ता है, वह क्रिया उसके लिये फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः।'** (संन्यासोपनिषद् २।९८; महा० शान्ति० २४१।७)।

कर्म करना और कर्म न करना—ये दोनों ही प्रकृतिके राज्यमें हैं। अतः प्रकृतिका सम्बन्ध होनेपर चलने, बोलने, देखने, सुनने आदिकी तरह बैठना, खड़ा होना, मौन होना, सोना, मूर्च्छित होना, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना, ध्यान करना, समाधि लगाना आदि क्रियाएँ भी 'कर्म' ही हैं। इसलिये भगवान्‌ने शरीर, वाणी और मनसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको 'कर्म' माना है—**'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।'** (गीता १८।१५) तथा शरीर, वाणी और मनकी शुद्धिके लिये शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपका वर्णन किया है (१७।१४—१६)। इसी तरह गीतामें चौथे अध्यायके चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक जिन यज्ञोंका वर्णन आया है तथा वेदोंमें जिन यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उन सबको कर्मजन्य माना गया है—**'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्'** (४।३२)।

भगवान्‌ने ज्ञानेन्द्रियोंको भी कर्मेन्द्रियाँ ही माना है। इसलिये गीतामें ज्ञानेन्द्रियोंका वर्णन तो आया है, पर 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द कहीं नहीं आया है। देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि ज्ञानेन्द्रियोंकी क्रियाओंको भी गीतामें कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाओंके साथ ही सम्मिलित किया गया है*। तीसरे

---

* नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५।८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता, सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, ग्रहण करता, बोलता, त्याग करता, सोता, श्वास लेता तथा आँखें खोलता और मूँदता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं—ऐसा समझकर 'मैं (स्वयं) कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा माने।'

अध्यायके छठे-सातवें श्लोकोंमें भी ज्ञानेन्द्रियोंको कर्मेन्द्रियोंके अन्तर्गत ही माना गया है; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंके बिना मिथ्याचार भी सिद्ध नहीं होगा और कर्मयोगका अनुष्ठान भी नहीं होगा *। जहाँ कर्मोंके तीन (सात्त्विक, राजस, तामस) भेद बताये गये हैं, वहाँ भी 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द नहीं आया है (गीता १८।२३—२५)। ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंके लिये भी '**पञ्च चेन्द्रियगोचराः**' (गीता १३।५) पद दिया गया है।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। मनुष्य वर्तमानमें जो कर्म करता है, वे 'क्रियमाण' कर्म हैं। भूतकालमें (इस जन्ममें अथवा पहलेके अनेक मनुष्य-जन्मोंमें) किये हुए जो कर्म अन्तःकरणमें संगृहीत हैं, वे 'संचित' कर्म हैं। संचितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये उन्मुख हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें परिणत होनेके लिये सामने आ गये हैं, वे 'प्रारब्ध' कर्म हैं। क्रियमाण कर्म अनेक प्रकारके कहे गये हैं। जैसे, व्याकरणकी दृष्टिसे कर्म चार प्रकारके हैं—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य (मलापकर्ष तथा गुणाधान) और आप्य [कहीं-कहीं निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य—ये तीन प्रकार कहे गये हैं]। न्यायकी दृष्टिसे कर्म पाँच प्रकारके हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। धर्मकी दृष्टिसे भी कर्म पाँच प्रकारके हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त और आवश्यक कर्तव्य-कर्म। ये सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिके सम्बन्धसे होनेवाले हैं। प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित स्वयं (स्वरूप) कभी किंचिन्मात्र भी किसी कर्मका कर्ता नहीं है। भगवान्ने स्वरूपको कर्ता माननेवालेकी निन्दा की है कि उसकी बुद्धि शुद्ध अर्थात् विवेकवती नहीं है, वह दुर्मति है †। परंतु जो अहम्को अपना स्वरूप नहीं मानता, ऐसा तत्त्वज्ञ महापुरुष स्वयंको कर्ता अनुभव नहीं करता—'**नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**।' (गीता ५।८)। तात्पर्य है कि अहम्को अपना स्वरूप माननेसे जो '**अहंकारविमूढात्मा**' हो गया था, वही अपनेको अहम्से अलग अनुभव करनेपर '**तत्त्ववित्**' हो जाता है।

अहंकारसे मोहित होकर स्वयंने भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया तो वह कर्म तथा उनके फलोंसे बँध गया और चौरासी लाख योनियोंमें चला गया। अब यदि वह अपनेको अहम्से अलग माने और अपनेको कर्ता न माने अर्थात् स्वयं वास्तवमें जैसा है, वैसा ही अनुभव कर ले तो उसके तत्त्ववित् (मुक्त) होनेमें आश्चर्य ही क्या है? तात्पर्य है कि जो असत्य है, वह भी जब सत्य मान लेनेसे सत्य दीखने लग गया, तो फिर जो वास्तवमें सत्य है, उसको मान लेनेपर वह वैसा ही दीखने लग जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है?

वास्तवमें स्वयं जिस समय अपनेको कर्ता-भोक्ता मानता है, उस समय भी वह कर्ता-भोक्ता नहीं है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**॥' (गीता १३।३१)। कारण कि अपना स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामें अहम् नहीं है और अहम्की सत्ता नहीं है। अतः 'मैं कर्ता हूँ'—यह मान्यता कितनी ही दृढ़ हो, है तो भूल ही! भूलको भूल मानते ही भूल मिट जाती है—यह नियम है। किसी गुफामें सैकड़ों वर्षोंसे अन्धकार हो तो प्रकाश करते ही वह तत्काल मिट जाता है, उसके मिटनेमें अनेक वर्ष-महीने नहीं लगते। इसलिये साधक दृढ़तासे यह मान ले कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ‡। फिर यह मान्यता मान्यतारूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत अनुभवमें परिणत हो जायगी।

यहाँ देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना और खाना—ये पाँच क्रियाएँ ज्ञानेन्द्रियोंकी हैं। चलना, ग्रहण करना, बोलना और मल-मूत्रका त्याग करना—ये चार क्रियाएँ कर्मेन्द्रियोंकी हैं। सोना—यह एक क्रिया अन्तःकरणकी है। श्वास लेना—यह एक क्रिया प्राणकी है। आँखें खोलना तथा मूँदना—ये दो क्रियाएँ उपप्राणकी हैं। तात्पर्य है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरमें होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिमें ही होती हैं, स्वयंमें नहीं। अतः स्वयंका किसी भी क्रियासे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

* कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (गीता ३।६-७)

† तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ (गीता १८।१६)

‡ जड़-चेतनकी ग्रन्थि होनेसे 'मैं'का प्रयोग जड़ (तादात्म्यरूप अहम्)के लिये भी होता है और चेतन (स्वरूप)के लिये भी होता है। जैसे, 'मैं कर्ता हूँ'—इसमें जड़की तरफ दृष्टि है और 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इसमें (जड़का निषेध होनेसे) चेतनकी तरफ दृष्टि है। जिसकी दृष्टि जड़की तरफ है अर्थात् जो अहम्को अपना स्वरूप मानता है, वह 'अहंकारविमूढात्मा' है और जिसकी दृष्टि चेतन (अहंरहित स्वरूप)की तरफ है, वह 'तत्त्ववित्' है।

जब चेतनमें कर्तापन है ही नहीं, तो फिर उसको सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु क्यों कहा गया है—**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।'** (गीता १३।२०)? इसके उत्तरमें भगवान् गीता (१३।२१) में कहते हैं कि अहम्‌के साथ तादात्म्य करनेसे ही चेतन सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

चेतनको भोक्तापनमें हेतु बतानेका कारण यह है कि सुखी-दुःखी चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं। इसमें भी एक मार्मिक बात है कि अहम्‌के साथ तादात्म्य होते हुए भी वास्तवमें चेतन सुख-दुःखका भोक्ता नहीं है—**'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥'** (गीता १३।३१)। तात्पर्य है कि कर्ता-भोक्ता अहम् है, स्वयं (चेतन) नहीं।

तादात्म्य क्या है? एक चार कोनोंवाला लोहा हो और उसको अग्निसे तपा दिया जाय तो यह लोहे और अग्निका तादात्म्य है। तादात्म्य होनेसे लोहेमें जलानेकी ताकत न होनेपर भी वह जलानेवाला हो जाता है और अग्नि चार कोनोंवाली न होनेपर भी चार कोनोंवाली हो जाती है। ऐसे ही जड़ (अहम्) और चेतनका तादात्म्य होनेपर जड़की सत्ता न होनेपर भी सत्ता दीखने लग जाती है और कर्ता-भोक्ता न होनेपर भी चेतन कर्ता-भोक्ता बन जाता है।

जैसे चुम्बककी तरफ लोहा ही खिंचता है, अग्नि नहीं खिंचती; परंतु लोहेसे तादात्म्य होनेके कारण अग्नि भी चुम्बककी तरफ खिंचती हुई प्रतीत होती है। ऐसे ही भोगोंकी तरफ अहम् ही खिंचता है, चेतन नहीं खिंचता। अहम्‌के बिना केवल चेतनका भोगोंमें आकर्षण हो ही नहीं सकता। अहम्‌के साथ एक होनेसे ही स्वयं भोक्ता बनता है अर्थात् अपनेको सुखी-दुःखी मानता है। अतः वास्तवमें अहम् ही कर्ता-भोक्ता बनता है, चेतन नहीं।

'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनका तादात्म्य है। इस 'मैं हूँ'में ही भोक्तापन रहता है। अगर 'मैं' न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' रहेगा। जैसे लोहे और अग्निमें तादात्म्य न रहनेसे लोहा पृथ्वीपर ही रह जाता है और अग्नि निराकार अग्नि-तत्त्वमें लीन हो जाती है, ऐसे ही अहम् तो प्रकृतिमें ही रह जाता है और 'हूँ' ('है'का स्वरूप होनेसे) 'है'में ही विलीन हो जाता है। 'है'में भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि भोगोंमें 'हूँ' खिंचता है, 'है' नहीं खिंचता। 'हूँ' ही कर्ता-भोक्ता बनता है, 'है' कर्ता-भोक्ता नहीं बनता। अतः 'हूँ'को न मानकर 'है'को ही माने अर्थात् अनुभव करे।

सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है। पापी-से-पापी मनुष्यको भी इसका अनुभव है। ऐसा अनुभव होनेपर भी मनुष्य आगन्तुक सुख-दुःखके साथ मिलकर सुखी-दुःखी हो जाता है। इसका कारण यह है कि 'मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं'—इस विवेकका वह आदर नहीं करता, इसको महत्त्व नहीं देता, इसपर कायम नहीं रहता। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी नहीं होता, प्रत्युत अहम्‌के साथ मिलकर अपनेको सुखी-दुःखी मान लेता है। तात्पर्य है कि सुख-दुःख केवल मान्यतापर टिके हुए हैं।

सुख-दुःखका आना, रहना और जाना—ये तीन अवस्थाएँ सबके अनुभवमें आती हैं। वास्तवमें ये तीन न होकर एक ही हैं। कारण कि सुख-दुःखके आते ही उसी क्षण उनका जाना शुरू हो जाता है। उनका रहना सिद्ध होता ही नहीं। तात्पर्य है कि सुख-दुःख तो निरन्तर बह रहे हैं, अभावमें जा रहे हैं, पर अज्ञानके कारण हमने ही उनको पकड़ा है अर्थात् उनको आते हुए और रहते हुए माना है। वास्तवमें 'वे बह रहे हैं'—ऐसा कहना भी सुख-दुःखकी सत्ताको लेकर है। अगर उनको सत्ता न दें तो वे हैं ही नहीं! जब हैं ही नहीं, तो फिर बहें क्या?

७. स्वतःप्राप्त और सहज निवृत्ति

स्वतःप्राप्त कभी अप्राप्त नहीं होता और सहज निवृत्तिका कभी नाश नहीं होता। स्वतःप्राप्त तत्त्व है और सहज निवृत्ति प्रकृति है। सहज निवृत्तिके दो भेद हैं— प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्तिमें भी सहज निवृत्ति है और निवृत्तिमें भी सहज निवृत्ति है। परंतु स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो सहज निवृत्तिका भान प्रवृत्तिके समय नहीं होता, प्रत्युत प्रवृत्तिके आदि और अन्तमें होता है। तात्पर्य है कि प्रकृति निरन्तर क्रियाशील होनेसे कभी अक्रिय नहीं रहती। अतः प्रकृतिकी क्रियाशीलता ही स्थूल दृष्टिसे सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलय—इन दो अवस्थाओंके रूपमें प्रतीत होती है*। परंतु स्वतःप्राप्त तत्त्वमें

* सर्गके आरम्भसे सर्गके मध्यतक प्रकृति सर्गकी ओर चलती है और [illegible] ऐसे ही प्रलयके

क्रिया नहीं है; अतः उसमें क्रियाकी सहज निवृत्ति है।

जिसमें क्रिया नहीं है, वह नित्यप्राप्त है और जिसमें क्रिया है, वह कभी किसीको प्राप्त हुआ नहीं, प्राप्त है नहीं, प्राप्त होगा नहीं तथा प्राप्त हो सकता नहीं। तात्पर्य है कि क्रियाशील प्रकृतिकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। सहज निवृत्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अविवेकके कारण स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई आदिकी प्राप्ति दीखती तो है, पर वास्तवमें इनकी अप्राप्ति ही है। कारण कि ये पहले भी अप्राप्त थे, पीछे भी अप्राप्त हो जायँगे तथा वर्तमानमें भी ये हमारेसे निरन्तर वियुक्त हो रहे हैं। अतः इनकी निरन्तर निवृत्ति (सम्बन्ध-विच्छेद) है, प्राप्ति नहीं है।

तत्त्वकी प्राप्ति भी स्वतःसिद्ध है और प्रकृतिकी निवृत्ति भी स्वतःसिद्ध है। तत्त्वकी प्राप्तिका नाम भी 'योग' है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८) और प्रकृतिकी निवृत्तिका नाम भी 'योग' है—**'दुःखसंयोगवियोगं योग-संज्ञितम्'** (गीता ६।२३)।

—इस प्रकार विवेकको प्रधानता देकर, अपनी विवेक-शक्तिका उपयोग करके सहज निवृत्तिकी निवृत्ति और स्वतःप्राप्तकी प्राप्ति स्वीकार करना करणनिरपेक्ष साधन है।

८. संसारका अभाव और परमात्मतत्त्वका भाव

देखने, सुनने तथा चिन्तन करनेमें जितना भी संसार आ रहा है, इसका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा तथा वर्तमानमें भी यह निरन्तर अभावमें जा रहा है—

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

(मानस २।९२।४)

इसका इतनी तेजीसे परिवर्तन हो रहा है कि इसको दो बार नहीं देख सकते अर्थात् एक बार देखनेमें यह जैसा था, दूसरी बार देखनेमें यह वैसा नहीं रहता। इसमें केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन है। परिवर्तनके पुञ्जका नाम ही संसार है।

वस्तुके उत्पन्न होते ही उसके नाशका क्रम (परिवर्तन) आरम्भ हो जाता है। जैसे, जमीनमें बीज डालते हैं तो पहले मिट्टी-पानीके संयोगसे बीज कुछ फूलता है। फिर वह फूटता है तो उसमेंसे अंकुर निकलता है। अंकुरसे फिर दो पत्तियाँ निकलती हैं। फिर वह बढ़कर पौधा बनता है। पौधा बढ़ते-बढ़ते वृक्ष बनता है। फिर वह वृक्ष भी धीरे-धीरे पुराना होकर अन्तमें गिर जाता है। तात्पर्य है कि बीजके बढ़नेसे लेकर वृक्ष बननेतक उसमें निरन्तर परिवर्तन हुआ है। ऐसे ही स्त्री गर्भ धारण करती है तो गर्भमें पहले एक पिण्ड बनता है। फिर उसके बढ़नेपर उसमेंसे वृक्षकी शाखाओंकी तरह एक सिर, दो हाथ और दो पैर निकलते हैं। फिर आँख, कान, नाक आदि नौ छिद्र बनते हैं। फिर हृदय आदिका निर्माण होते-होते नवें मासमें वह सम्पूर्ण अङ्गोंसे युक्त होकर गर्भाशयसे बाहर आता (जन्म लेता) है। जन्मके बाद वह प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। जन्मसे लेकर दो वर्षतक उसकी 'शिशु'-अवस्था होती है। दोसे पाँच वर्षतक उसकी 'कुमार'-अवस्था होती है। पाँचसे दस वर्षतक उसकी 'पौगण्ड'-अवस्था होती है। दससे पंद्रह वर्षतक उसकी 'किशोर'-अवस्था होती है। पंद्रहसे तीस वर्षतक उसकी 'युवा'-अवस्था होती है। तीससे पचास वर्षतक उसकी 'प्रौढ'-अवस्था होती है। पचास वर्षसे आगे उसकी 'वृद्ध'-अवस्था होती है*। फिर उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्युके बाद सूक्ष्म-शरीर तथा कारण-शरीर—दोनोंको लेकर जीव परलोकगमन करता है और स्थूलशरीर यहीं पड़ा रह जाता है। उस स्थूलशरीरमें अनेक विकार (फूलना, सड़ना आदि) होने लगते हैं। उसको जलानेसे वह राख बन जाता है, पशु-पक्षियोंके खानेसे वह विष्ठा बन जाता है और जमीनमें

आरम्भसे प्रलयके मध्यतक प्रकृति प्रलयकी ओर चलती है और प्रलयके मध्यसे प्रकृति सर्गकी ओर चलती है। जैसे, सूर्योदय होनेपर प्रकाश मध्याह्नतक बढ़ता जाता है और मध्याह्नसे सूर्यास्ततक प्रकाश घटता जाता है। सूर्यास्त होनेपर अन्धकार मध्यरात्रितक बढ़ता जाता है और मध्यरात्रिसे सूर्योदयतक अन्धकार घटता जाता है। तात्पर्य है कि जैसे प्रकाश और अन्धकारकी क्रिया निरन्तर होती रहती है, ऐसे ही प्रकृतिमें सर्ग और प्रलय, महासर्ग और महाप्रलयकी क्रिया भी निरन्तर होती रहती है, कभी मिटती नहीं।

* स्त्रीकी अवस्था जन्मसे लेकर दो वर्षतक 'बालिका', दोसे पाँच वर्षतक 'कुमारी', पाँचसे दस वर्षतक 'कन्या' [इसमें भी आठवें वर्षमें 'गौरी' और नवें वर्षमें 'रोहिणी'], दससे पंद्रह वर्षतक 'किशोरी' या 'मुग्धा', पंद्रहसे तीस वर्षतक 'युवती', तीससे पचास वर्षतक 'प्रौढा' और पचाससे आगे 'वृद्धा' कहलाती है।

गाड़नेसे वह कृमि बन जाता है।

तात्पर्य यह हुआ कि गर्भसे लेकर अन्ततक शरीरमें निरन्तर परिवर्तन होता है। उत्पन्न होते ही उसमें विनाशकी क्रिया आरम्भ हो जाती है। इसलिये जन्म लेनेके बाद बालक बड़ा होगा कि नहीं होगा, पढ़ेगा कि नहीं पढ़ेगा, व्यापार आदि कार्य करेगा कि नहीं करेगा, डॉक्टर, इंजीनियर आदि बनेगा कि नहीं बनेगा, विवाह करेगा कि नहीं करेगा, उसकी संतान होगी कि नहीं होगी आदि सब बातोंमें संदेह रहता है, पर वह मरेगा कि नहीं मरेगा—इस बातमें कोई संदेह नहीं रहता; क्योंकि यह निरन्तर मर रहा है।

इस प्रकार संसारमात्रमें कोरा परिवर्तन-ही-परिवर्तन है। ऐसा कोई वर्ष नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई महीना नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई दिन नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई घंटा नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई मिनट नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। ऐसा कोई सेकेंड नहीं, जिसमें परिवर्तन न होता हो। जैसे नदी निरन्तर बहती ही रहती है, एक क्षणके लिये भी रुकती नहीं, ऐसे ही संसारके नाशका प्रवाह निरन्तर चलता रहता है, एक क्षणके लिये भी रुकता नहीं।

वास्तवमें संसारका प्रवाह नदीके प्रवाहसे अथवा विद्युत्की गतिसे भी तेज है, जिसमें नदीका प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है तथा विद्युत्की गति भी गतिशील हो रही है! नदीके किनारे खड़े एक संतने कहा कि जैसे नदी बह रही है, ऐसे ही पुलपर आदमी बह रहे हैं। दूसरे संत बोले कि आदमी ही नहीं, खुद पुल भी बह रहा है! कैसे? जिस दिन यह पुल बना, उस दिन यह जैसा नया था, वैसा आज नया नहीं है और जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा, प्रत्युत पुराना होकर एक दिन गिर जायगा। तात्पर्य यह हुआ कि इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, यह निरन्तर अभावमें जा रहा है।

प्रत्येक देश (स्थान)का पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा और अब भी निरन्तर अभाव हो रहा है। प्रत्येक वर्ष, महीना, पक्ष, वार, तिथि, नक्षत्र, घंटा, मिनट, सेकेंड आदिका तथा भूत, भविष्य और वर्तमान कालका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनका पुञ्ज है। प्रत्येक व्यक्ति जन्मसे पहले भी नहीं था, मृत्युके बाद भी नहीं रहेगा तथा बीचमें भी प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि-अवस्था तथा बालक, जवान और वृद्धावस्था आदि सम्पूर्ण अवस्थाओंका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। एक क्षण पहले जैसी अवस्था थी, दूसरे क्षणमें वैसी अवस्था नहीं रहती। अनुकूल, प्रतिकूल तथा मिश्रित—कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती। परिस्थिति-मात्रका निरन्तर अभाव हो रहा है। प्रत्येक सुखदायी तथा दुःखदायी घटनाका निरन्तर अभाव हो रहा है। जन्म-मरण, संयोग-वियोग आदि कोई भी घटना टिकती नहीं। कोई भी क्रिया निरन्तर नहीं रहती। प्रत्येक क्रियाका आदि और अन्त होता है। तात्पर्य है कि प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना और क्रियामें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। परंतु इस परिवर्तनको जो जाननेवाला है, वह अपरिवर्तनशील तत्त्व है। कारण कि जो बदलता है, वह बदलनेवालेको नहीं जान सकता। जो नहीं बदलता, वही बदलनेवालेको जान सकता है। गीतामें आया है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

(८।१९)

'वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न हो-होकर लीन होता है।'

—जो उत्पन्न हो-होकर लीन होता है, वह बदलनेवाला नाशवान् संसार है और जो वही रहता है, वह न बदलनेवाली अखण्ड सत्ता है। संसारमें केवल परिवर्तन है और सत्तामें केवल अपरिवर्तन है। बदलनेवालेका नाम ही संसार है और न बदलनेवालेका नाम ही परमात्मतत्त्व है। परमात्मतत्त्वकी सत्तासे ही यह संसार सत्तावाला ('है'-रूपसे) दीख रहा है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १।११७।४)

जैसे, हम कहते हैं कि 'यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है' आदि, तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं; परंतु 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार है और 'है' परमात्मतत्त्व है। संसारकी तो सत्ता नहीं है और परमात्मतत्त्वका अभाव नहीं है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

(गीता २। १६)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहम्—ये आठों अपरा प्रकृति हैं (गीता ७। ४)। इन आठोंमें क्रिया, परिवर्तन अथवा विकृति होती है, पर ये जिसकी सत्तासे सत्तावान् प्रतीत होते हैं, उस 'है'में कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया, परिवर्तन अथवा विकृति नहीं होती। वह नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। जैसे, हम कहते हैं कि 'पृथ्वी है' तो इसमें दो शब्द हैं—'पृथ्वी' और 'है'। जब भूकम्प आता है, तब वह पृथ्वीमें आता है, 'है'में नहीं आता। पेड़-पौधे पृथ्वीपर उगते हैं, 'है' पर नहीं उगते। जल कभी बर्फ बनकर जम जाता है, कभी भाप बनकर उड़ जाता है, पर 'है' न जमता है, न उड़ता है। जल ठंडा या गर्म होता है, 'है' ठंडा या गर्म नहीं होता। अग्नि कभी जलती है, कभी शान्त होती है, पर 'है' न जलता है, न शान्त होता है। वायु कभी स्थिर रहती है, कभी बहती है, पर 'है' न स्थिर रहता है, न बहता है। बादल आकाशको आच्छादित करते हैं, पर 'है'को आच्छादित नहीं करते। शब्द आकाशका, स्पर्श वायुका, रूप अग्निका, रस जलका और गन्ध पृथ्वीका गुण है, पर 'है'में ये गुण नहीं हैं। स्थिर या चञ्चल मन होता है, 'है' नहीं होता। संकल्प-विकल्प मनमें होते हैं, 'है'में नहीं होते। कभी ठीक समझना, कभी कम समझना और कभी बिलकुल न समझना बुद्धिमें है, 'है'में नहीं है। सम्पूर्ण क्रियाएँ अहम् (धातुरूप समष्टि अहंकार)में होती हैं, 'है'में कभी किंचिन्मात्र भी कोई क्रिया नहीं होती। इसी अहम्के साथ सम्बन्ध जोड़कर जीव मान लेता है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं ऊँचा हूँ, मैं नीचा हूँ' आदि। परंतु 'है' कभी सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता, मूर्ख-विद्वान्, ऊँचा-नीचा आदि नहीं होता।

हम कहते हैं कि 'संसार है' तो परिवर्तन संसारमें होता है, 'है'में नहीं होता। जैसे, 'काठ है' तो विकृति काठमें आती है, 'है'में नहीं आती। काठ जलता है, 'है' नहीं जलता। काठ जलकर कोयला हो गया तो जो पहले 'काठ है', वही अब 'कोयला है', तो 'है'में क्या फर्क पड़ा? ऐसे ही काठ कटता है, 'है' नहीं कटता। पानीमें काठ बहता है, 'है' नहीं बहता। काठ कभी गीला होता है, कभी सूखा होता है, पर 'है' कभी गीला या सूखा नहीं होता। काठ कभी एकरूप रहता ही नहीं और 'है' कभी अनेकरूप होता ही नहीं।

जो बदले, वह संसार है और जो कभी न बदले, वह 'है' अर्थात् परमात्मतत्त्व है। संसारकी सत्ता तो उत्पन्न होनेके बाद है, पर 'है'की सत्ता उत्पन्न होनेके बाद नहीं है, प्रत्युत पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है—

'नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।'

(गीता २। २०)

अतः संसारकी सत्ता अवास्तविक (मानी हुई) तथा एकदेशीय है और 'है'की सत्ता वास्तविक और अनन्त है।

संसारको 'है'की आवश्यकता है, पर 'है'को संसारकी आवश्यकता नहीं है। कारण कि संसारकी सत्ता 'है'के अधीन है, पर 'है'की सत्ता संसारके अधीन नहीं है। जैसे प्रकाशमें सब वस्तुएँ दीखती हैं तो सबसे पहले प्रकाश दीखता है, वस्तुएँ पीछे दीखती हैं, ऐसे ही सबसे पहले 'है' दीखता है, संसार पीछे दीखता है। परंतु भोग तथा संग्रहमें आसक्त मनुष्य केवल संसारको ही देखते हैं—**'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥'** (गीता १६। ११) और तत्त्वज्ञ महापुरुष संसारको न देखकर केवल 'है'को ही देखते हैं—

'वासुदेवः सर्वम्।' (गीता ७। १९)

(क्रमशः)

बिना प्रयत्नके कृपा

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनो हि पुरुषाः परतुष्टिहेतोर्दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति॥

मेरी निन्दासे यदि किसीको संतोष होता है, तब तो बिना प्रयत्नके ही मेरी उनपर कृपा हुई, क्योंकि कल्याण चाहनेवाले पुरुष तो दूसरोंके संतोषके लिये बड़े कष्टसे कमाया हुआ धन भी त्याग दिया करते हैं।

पशुधनकी सुरक्षा तथा शुद्ध दूध-शहदकी उपलब्धि

(श्रीलक्ष्मीनारायणजी मोदी)

वर्तमान समयमें प्रायः सम्पूर्ण भारतमें जिस प्रकारसे बहुमूल्य पशुधनका विनाश किया जा रहा है, उसकी वजहसे गौ आदि पशुओंकी सर्वश्रेष्ठ नस्लें ही नष्ट होती चली जा रही हैं। यह बात सभीको मान लेनी चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वके पर्यावरण-संतुलनको बनाये रखनेके लिये सभी प्राणियोंको जीवित बनाये रखना भी बहुत ही आवश्यक है। १९८७ की एक शासकीय रिपोर्टमें कहा गया है—

'मांस-उद्योगके स्वस्थ-विकासके लिये यह आवश्यक है कि स्वस्थ तथा उपयोगी पशुओंके अंधाधुंध और आम कत्लके द्वारा होनेवाली हानिको रोका जाय तथा मांसके लिये वध किये जानेवाले पशुओंके लिये कोई निश्चित राष्ट्रिय वध-नीति घोषित की जाय और उसपर अमल भी किया जाय। एक ऐसा पशु जो किसी एक कृषकके लिये अनुपयोगी सिद्ध होता है, वही किसी दूसरे कृषकके लिये जब कम कीमतमें बेचा जाता है तब उसके लिये उपयोगी सिद्ध होता है और वह उसका पालन-पोषण भी कर लेता है। अतः पशुओंद्वारा की जानेवाली उत्पादकताका सीधा सम्बन्ध उसके मूल्य एवं उपयोगितासे है। अतः अनुत्पादक कहे जानेवाले पशुओंका वध गलत तथा असंगत है।'

अतः आठवीं पञ्चवर्षीय योजनाके अन्तर्गत जिन चालीस नये और आधुनिक वधगृहोंके निर्माणका प्रस्ताव किया गया है, उसे निरस्त किया जाय तथा उपयोगी पशुओंकी रक्षाके लिये हर प्रकारके वध ही प्रतिबन्धित कर दिये जायँ।

सन् १९३५ की शासकीय रिपोर्टके आधारपर प्राकृतिक मौतसे मरनेवाले तथा वधद्वारा मारे जानेवाले पशुओंका अनुपात ८०.२० था, जो वर्तमान मांस तथा चमड़ेके निर्यातकी वजहसे ४०.६० के अनुपातपर पहुँच गया है।

सर्वोच्च न्यायालयने भी अपने १९५८के निर्णयमें स्पष्ट रूपसे कहा है—

'ग्रामीण आबादीकी आमदनीकी पूर्ति फसलों तथा खाद्यान्नोंके उत्पादनके बाद पशुधन ही करता है। फसलोंका उगाया जाना तथा पशुपालन—दोनों ही एक दूसरेके पूरक अङ्ग हैं।'

दिनाङ्क १५-२-४२ को गाँधीजीने 'हरिजन' पत्रिकामें लिखा था—

'आज तो गाय समाप्तिके कगारपर खड़ी दिखायी दे रही है और मुझे शंका है कि हम कभी भी अपने प्रयासोंमें सफल हो सकेंगे। मैं तो इतना जानता हूँ कि यदि गाय मर गयी अर्थात् वह भारतसे गायब हो गयी तो हम सब भी मिट जायँगे, हमारी सभ्यता भी मिट जायगी। हमारी संस्कृति तथा ग्रामीण समाज तो अहिंसाके आधारपर ही टिका हुआ है। अतः हमें तो चुनना ही होगा। हम चाहें तो हिंसाका मार्ग चुनकर सारे-के-सारे अनर्थक पशुओंका वध भी कर सकते हैं और तब हमें भी यूरोपके समान अपने पशुओंका उत्पादन मांस तथा दूधके लिये अलग-अलग करना पड़ेगा। किंतु हमारी तो सभ्यता ही भिन्न प्रकारकी है। हमारी तो समग्र जीवन-पद्धति ही पशुधनके साथ गुँथी हुई है। हमारे तो बहुतसे ग्रामीण बन्धु-बान्धव पशुओंके साथ एक ही छतके नीचे रहते हैं। दोनों ही साथ रहते हैं और साथ ही भूखे भी मरते हैं।'

पशुधनकी बढ़ोत्तरीसे होनेवाले विदेशी मुद्राके लाभकी चर्चा तो सभी करते हैं, किंतु समग्र राष्ट्रको कितनी महान् हानि हो रही है, इसपर कोई ध्यान ही नहीं दे रहा है। अतः पशुवधकी दशा तो हमारे देशमें ठीक वैसी ही है, जैसी कि उस मुर्गी-पालककी थी, जिसने सोनेके लालचमें सोनेके अंडे देनेवाली मुर्गीको ही मार दिया था।

(अ) १९३५ में पशुओंकी प्राकृतिक तथा वधद्वारा की जानेवाली मौतका अनुपात ८०.२० का ही था।

(ब) १९८६ में यह अनुपात ५०.२ : ४९.८ हो गया था।

(स) १९८६ में कुल वध किये गये पशुओंकी संख्या १,०८,०९,००० अर्थात् एक करोड़के ऊपर पहुँच चुकी थी। मानव-आबादीके अनुपातमें गोवंशकी संख्या १९५१में तैंतालीस प्रतिशत थी, जो आज घटकर बीस प्रतिशतपर आ गयी है। सन् १९८२ के सरकारी आँकड़ोंके अनुसार हर सौ व्यक्तियोंके पीछे पशुधनका अनुपात निम्न है—अर्जेंटिना

२०८, आस्ट्रिया १३६, कोलम्बिया ९१, ब्राजील ७२ तथा भारत २७.८।

उपर्युक्त स्थिति आगाह करती है कि आनेवाले कुछ वर्षोंमें ही अपने देशसे गोवंशका तो नामोनिशानतक मिट जायगा। केन्द्रिय चमड़ा-अनुसंधान—संस्थान मद्रासद्वारा प्रकाशित किये गये चित्रोंसे भी स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वहाँ अच्छे-अच्छे स्वस्थ और जवान पशुओंका ही वध किया जाता है।

हर एक पशुसे हमें दस हार्स पावर-जितनी ऊर्जा प्रतिदिन मिलती है, अतः एक करोड़के वधसे पाँच वर्षमें कितनी ऊर्जा-की हानि होगी— १,००,००,०००×१०४.०×२५० दिन×५वर्ष=१२५,००,००,००,००० हार्स पावर अथवा ९,३७,५०,००,००,००० यूनिट्स रु० १.२५/- अथवा १,१७,१८,७५,००,००० एक खरब सत्रह अरब अठारह करोड़ पचहत्तर लाख रुपये।

अब तो ओषधि-विज्ञान भी यह सिद्ध कर चुका है कि मांस-भोजन मानवमात्रके लिये हानिप्रद है। दूसरी विडम्बना यह है कि इसे गरीब लोग तो खरीद ही नहीं सकते हैं, यह तो केवल अमीरोंके स्वाद ही चढ़ा है, जिससे वे भी रोगग्रसित ही रहते हैं और बस केवल शुद्ध ऊझानके मोहमें मांस-भक्षण करते रहते हैं। वही हाल चमड़ा-निर्मित वस्तुओंका है, जिन्हें केवल अमीर ही उपयोगमें ला पाते हैं।

कहा जाता है कि चारे-भूसेकी कमी है, किंतु इस कमीके कारणोंकी खोज किसीने भी नहीं की है। फसलोंकी कटाई, धुनाई जहाँ यन्त्रोंद्वारा की जाती है, उसमें बहुत-सा भूसा नष्ट हो जाता है। यही कार्य यदि देशी एवं स्वनिर्मित यन्त्रोंसे किया जाता तो इस प्रकारके भूसेकी हानि बच सकती थी। अभी-अभी भोपालमें बैलोंद्वारा चलाये जानेवाले ऐसे रीपरका आविष्कार किया गया है, जिससे गेहूँ, अलसी,, मटर, सोयाबीन तथा सूर्यमुखीकी फसलोंका बीज-पृथक्करण इतनी अच्छी प्रकारसे किया जा रहा है कि भूसेकी हानि केवल पाँच प्रतिशततक ही हो पाती है।

भारतीय चारागाह एवं भूसा-अनुसंधान-संस्थान—झाँसीद्वारा कुछ अच्छी किस्मोंकी घासकी खोज की गयी है, किंतु इनके सही तथा कारगर प्रचार-प्रसारहेतु कोई प्रयास ही नहीं किया गया है।

गन्नेकी पत्तियों तथा लुगदीद्वारा भी किसी प्रकारका पशु-आहार बनाया नहीं जा रहा है, जबकि भारतीय कृषि-उद्योग-संस्थान-उरली-कांचन (पुणे) ने इसका सफल प्रयोग अपने पशुओंपर कर दिखाया है।

नेशनल शूगर इंस्टीट्यूट कानपुरने भी गन्नेकी लुगदीका अच्छा उपयोग करके दिखा दिया है।

भारतीय अर्थतन्त्रकी प्रगतिमें जब पशुओंका इतना अधिक महत्त्व है तो फिर यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि पशु-आहारकी समस्याको हल करनेके लिये वन-विभागों और कृषि-विभागोंका एकीकरण क्यों नहीं किया गया। कम-से-कम भूसे तथा चारेकी बढ़ोत्तरीके लिये तो दोनों इकाइयोंमें सामञ्जस्य स्थापित कर लेना था।

देशी खादसे धरतीका स्तर सुधरता है, उसमें नमी बनाये रखनेकी क्षमता बढ़ जाती है। इसकी वजहसे धरतीको सभी पोषक तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व मिल जाते हैं। इसके ठीक विपरीत रासायनिक उर्वरकोंकी वजहसे मिट्टी अनुपजाऊ बनती जाती है। १९८८-८९ की इंडियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्चकी वार्षिक रिपोर्टके पृष्ठ ८६-८७ पर दिये गये वर्णनका अवलोकन कीजिये—

'बहुतसे कृषक अपनी फसलोंपर केवल 'एन०' अर्थात् नाइट्रोजनका ही उर्वरक डालते हैं,जबकि 'पी०' और 'के०' अर्थात् पोटास और फास्फेट भी आवश्यक होते हैं, जिन्हें फसलों तथा धरतीकी जरूरतको देखकर दिया जाना चाहिये। १९७१—८७ तक अर्थात् १६ वर्षोंके सतत अध्ययनने सिद्ध कर दिया है कि जिन खेतोंमें 'के०' और 'पी०' के उर्वरक नहीं डाले गये, उनका उत्पादन काफी कम रहा।'

रासायनिकोंकी वजहसे धरातलके ऊपर तथा नीचेका पानी भी प्रदूषित होता है। इन सबके बावजूद आश्चर्य तो इस बातका है कि हमारी केन्द्रिय सरकार रासायनिक उर्वरकोंके प्रचलनको बढ़ानेके लिये उर्वरक-उद्यमियोंको प्रतिवर्ष ६० अरब रुपयोंकी सब्सिडी देती है, किंतु सेन्द्रिय खादके प्रचारके लिये कुछ भी नहीं। हालाँकि इंडियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट हमेशा दससे लगाकर पंद्रह टनतक प्रति हेक्टेयर गोबरके खादके डालनेकी भी सिफारिश

करती है और गोबरकी कमीकी वजहसे कृषकोंको उनकी आवश्यकतानुसार गोबरका देशी खाद मिल भी नहीं पाता है। भानुप्रतापसिंह कमेटी १९९० के अनुसार सब्सिडीका पैसा किसानोंके हाथतक तो पहुँच ही नहीं पाता है।

पंडित नेहरूने भी कहा था कि मांस-भोजनसे मनुष्य हिंसक बनता है—विभिन्न देशोंने अलग-अलग प्रकारके पशुओंका चयन अपने राष्ट्रिय प्रतीकोंके रूपमें किया है, अमेरिकाने गिद्धको चुना, जर्मनीका शेर है, इंगलैंडका बुलडाग, फ्रांसका लड़नेवाला मुर्गा तथा रूसका भालू। तो ये संरक्षण-पशु इन देशोंके राष्ट्रिय चरित्रको बनानेमें कहाँतक मदद करते हैं ? इनमेंसे अधिकांश तो हमलावर, लड़ाकू तथा शिकार करनेवाले पशु हैं। हमें इसपर तनिक भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि ऐसे लोग इस प्रकारके संरक्षक प्रतीकोंके साथ बड़े होते हैं। उनका तो स्वभाव ही आक्रामक होगा। हमें इसपर भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि हमारे देशका हिन्दू इतना विनम्र तथा अहिंसावादी क्यों है ? क्योंकि उसका तो संरक्षक पशु ही गाय है।

पैगम्बर मोहम्मदने भी कहा है—'गायका दूध स्वास्थ्य-वर्धक है, जबकि उसका मांस रोगोंका घर है।'

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीने हमें अहिंसाके माध्यमसे आजादी दिलायी है। हमारा तो राष्ट्रिय मन्त्र ही '**अहिंसा परमो धर्मः**' है, तो हमारे देशमें मांसके उपयोगकी बढ़ोत्तरी, एक ऐसा अशुभ लक्षण है जो हमारे राष्ट्रिय सिद्धान्तोंके बिलकुल विपरीत है।

पश्चिमी देश मांसाहारके दुष्प्रभावोंसे दुःखी होकर धीरे-धीरे शाकाहारी बनते जा रहे हैं। 'इकनामिक टाइम्स'के मई २५, १९९०के अङ्कमें 'पागल गाय' नामक रिपोर्टने ब्रिटेनके गो-मांसके व्यापारको बुरी तरहसे गिरा दिया है। वहाँके उपभोक्ता डरते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि हमारी रविवारीय दावतें हमारा खातमा ही न कर दें। इंगलैंडमें गोमांसकी सर्वप्रियता अब समाप्त हो चुकी है।

मांसाहारी ऐसे ही पशुओंका मांस खाना पसंद करते हैं जो कि शाकाहारी हैं और संसारकी प्रायः सभी भोजन-पद्धतियाँ वनस्पतियों, तेलों अथवा किसी-न-किसी अन्य दुग्ध-पदार्थकी सहायताके बिना पूरी ही नहीं हो सकतीं।

अच्छे स्वास्थ्यका तो दूध एक सर्वोत्तम आधार है। गायका दूध माँके दूधके समान ही होता है, जो सरलतासे पच जाता है तथा सात्त्विक बुद्धिका निर्माण भी करता है। फिर भी मूल्य-निर्धारणके समय गायके दूधकी कीमत कम आँकी जाती है, जबकि यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम उसका भी मूल्य भैंसके दूधके बराबर तो निर्धारित किया ही जाना चाहिये। हमारे यहाँ तो गाँवों तथा नगरोंमें भी छाछको निःशुल्क ही बाँटे जानेका प्रचलन था, जिससे गरीबोंकी एक बड़ी आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती थी, किंतु अब तो वह व्यवस्था ही गड़बड़ा गयी है। दुग्ध-पदार्थोंसे होनेवाले लाभ तो अनगिनत हैं और सभी लोग जानते भी हैं। इनके द्वारा लोगोंको रोजगार तो मिलता ही है। हिंदुस्तान टाइम्सके १० जून, १९९० के संस्करणकी रिपोर्ट देखिये—

'रयूटरके अनुसार पिछले शुक्रवारको बोस्टनाकी एक मेडिकल कंपनीने इस प्रकारकी घोषणा की है कि 'गोटमालामें जो क्लीनिकल टेस्ट किये गये थे' उनके अनुसार मानव-रक्तके स्थानपर अब तो गायके रक्तका भी उपयोग किया जा सकेगा।'

हमारे देशमें आज भी इस प्रकारकी सक्षमता तो है कि वह अपने सम्पूर्ण देशवासियोंकी आवश्यकताके अनुसार दूध और शहद दोनों ही पूरा कर सकता है, बस आवश्यकता तो केवल इतनी ही है कि हमारी सरकारद्वारा सार्थक और सशक्त निर्णय लिये जायँ—

१-पहली बात तो यह है कि हम पशु—प्राणिमात्रके लिये राष्ट्रिय नीति बनायें।

२-हर प्रकारके वधको बंद करें।

३-सेन्द्रिय खाद ही काममें लायें।

४-गोदुग्ध तथा उसके द्वारा निर्मित पदार्थोंके उपयोगको प्रोत्साहित करें तथा उनकी विक्रीका प्रबन्ध अलगसे करें।

५-जहाँतक सम्भव हो पशु-शक्तिका ही उपयोग करें।

६-वनविभाग, कृषि-विभाग तथा पशु-आहार और भूसे-चारेके उत्पादन तथा अनुसंधानोंका एकीकरण करें।

अब वह समय आ गया है जबकि हमें सम्पूर्ण प्राकृतिक उत्पादनोंके बारेमें विचार करना चाहिये कि इन उत्पादनोंके लिये पशुओं तथा उपलब्ध वनस्पतियोंका क्या उपयोग है ?

हमारे राष्ट्रिय विकास तथा समग्र राष्ट्रिय उत्पादनका तालमेल ही बिगड़ा हुआ नहीं है, बल्कि इनमें बहुत बड़ा विरोधाभास भी है। गाँधीजीने ठीक ही कहा था—

'धरती माता, हर व्यक्तिकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकती हैं, किंतु वह किसी एक अकेले व्यक्तिके लालचकी पूर्ति नहीं कर सकेंगी। जो कुछ भी धरतीमेंसे उसकी फसलोंके रूपमें हम लेते हैं, उसे हमें सेन्द्रिय खादके रूपमें धरतीको लौटाकर देना भी आवश्यक है।'*

कृपया सदैव याद रखें—'पशु तो वगैर मनुष्योंके भी जी सकते हैं, किंतु मनुष्य पशुओंके वगैर जिंदा भी नहीं रह सकेगा।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखो

आपके कई पत्र मिल चुके। मेरा स्वाभाविक आलस्य आप जानते ही हैं। इसके सिवा इधर कामकी भी कुछ भीड़ रही। सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखनेका प्रयत्न करना और यथासाध्य अधिकाधिक भगवान्‌का स्मरण करना एवं स्मरण होनेपर न भूलनेकी चेष्टा करना—ये बड़े ही उत्तम साधन हैं। सर्वत्र सबमें परमात्माको देखनेके साधनसे बहुत ही शीघ्र जीवन पलट सकता है। पाप, ताप, छल, द्रोह, दम्भ, वैर आदिका आप ही नाश हो जाता है। जो सामने आया, तत्काल उसीमें भगवान् हैं, ऐसा स्मरण हो आनेसे उसके साथ दूषित बर्ताव हो ही नहीं सकता। नाटकमें नाटकका स्वामी या अपना साक्षात् पिता भी शिष्य बनकर आ सकता है। उसको स्वामी या पिता पहचानते हुए जो शिक्षकका नाट्य किया जाता है, वह स्वामीकी आज्ञानुसार लीलावत् ही होता है। उसमें दोष प्रायः आ ही नहीं सकता। इसी प्रकार आप भी विद्यार्थियोंको पढ़ाते समय 'उसमें भगवान् हैं या स्वयं भगवान् ही उन स्वरूपोंमें प्रकट हो रहे हैं', ऐसा समझकर उन्हें पढ़ाइये। यही व्यवहार घरके लोगों, मित्रों, सम्बन्धियों, नौकरों आदिके साथ कीजिये तो बहुत ही शीघ्र समस्त दोषोंका ध्वंस सम्भव है। चित्तमें अपूर्व शान्ति और आनन्द तो इस साधनके संगी ही हैं। **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'** दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव, विषम व्यवहार तभीतक होता है, जबतक हम उन्हें आत्मासे अतिरिक्त कोई दूसरा समझते हैं। जब हम यह देखेंगे कि ये सब तो हमारे आत्मा ही हैं, तब बुरा बर्ताव कैसे होगा? अपने प्रति क्या कभी कोई बुरा बर्ताव करता है? फिर जब वे हमें भगवान् दीखेंगे, तब तो हमारे पूज्य और सब प्रकारसे सेवाके पात्र बन जायँगे।

(२)

पतित होकर पतितपावनको पुकारो

भाई! तुम इतना घबड़ाते क्यों हो? परमात्माकी असीम दयालुतापर विश्वास करो। हम पतित हैं तो क्या हुआ, वे तो 'पतितपावन' हैं। सचमुच पतित बनकर पतितपावनको पुकारो—अशरण होकर अशरणशरणकी शरण हो जाओ। फिर देखो—करोड़ों स्नेहमयी जननीहृदयोंको भी लजा देनेवाला परमात्माका स्नेह-स्रोत उमड़ता दिखलायी देगा और तुम उसके प्रवाहमें आनन्दरूप होकर बह जाओगे। हालत खराब है तो क्या है? लाख वर्षकी अँधेरी कोठरी प्रकाश आते ही प्रकाशित हो जाती है। यह लाख वर्षकी अपेक्षा नहीं करती। इसी प्रकार भगवान्‌के शरण होते ही सारे पाप तुरंत भस्म हो जाते हैं। मनमें दृढ़ता धारणकर भगवान्‌का स्मरण करो और अपनेको सर्वतोभावेन उनके चरणोंपर न्योछावर कर देनेकी चेष्टा करो। उनकी दयालुतापर विश्वास करो और यह दृढ़ धारणा कर लो कि 'मैं उनका हूँ, उनका अभय-हस्त मेरे मस्तकपर सदा ही टिका हुआ है।' यह भावना जितनी ही बढ़ेगी उतना ही आनन्द बढ़ेगा। नाम-जपमें मन ऊबता है तो जबरदस्ती कड़वी दवाकी भाँति ही उसका नियमपूर्वक सेवन करो। भगवान्‌के बलपर मनमें धीरज रखो। आचरणोंको उज्ज्वल बनानेकी कोशिश करो।

* इन सूचनाओं तथा जानकारीके विषयमें जो भी सज्जन विस्तृत रूपमें जाननेके आकाङ्क्षी हों, वे—लक्ष्मीनारायण मोदी, सी-३८, पंपोश, एंकलेव, नयी दिल्ली—११००४८—इस पतेपर सम्पर्क कर सकते हैं।

अमृत-बिन्दु

लेनेकी इच्छावाला सदा दरिद्र ही रहता है।

× × × ×

सत्को जानो चाहे मत जानो, पर जिसको असत् जानते हो, उसका त्याग कर दो तो सत्की प्राप्ति हो जायगी।

× × × ×

जिसको नहीं करना चाहिये, उसको करना और जिसको नहीं कर सकते, उसका चिन्तन करना—ये दो खास बन्धन हैं।

× × × ×

अच्छे-से-अच्छा कार्य करो, पर संसारको स्थायी मानकर मत करो।

× × × ×

सबमें परिपूर्ण एक परमात्मतत्त्वको देखना ही सत्संग (सत्का संग) है।

× × × ×

वस्तुका मिलना अथवा न मिलना बन्धनकारक नहीं है, प्रत्युत वस्तुसे माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनकारक है।

× × × ×

ऊँची-से-ऊँची जीवन्मुक्त अवस्था मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक है।

× × × ×

जिससे अपना और दूसरोंका, वर्तमानमें और परिणाममें अहित होता हो, वह सब असत् कर्म है।

× × × ×

संसारका वियोग भी स्वतःसिद्ध है और परमात्माका योग भी स्वतःसिद्ध है।

× × × ×

आश्रय उसीका लेना चाहिये, जो हमारेसे अलग, दूर, विमुख और भिन्न न हो सके तथा हम उससे अलग, दूर, विमुख और भिन्न न हो सकें।

× × × ×

रुपयोंके कारण कोई सेठ नहीं बनता, प्रत्युत कँगला बनता है। वास्तवमें सेठ वही है, जो श्रेष्ठ है अर्थात् जिसको कभी कुछ नहीं चाहिये।

× × × ×

अपने स्वभावका सुधार मनुष्य खुद ही कर सकता है। दूसरा केवल उसको उपाय बता सकता है, उसकी सहायता कर सकता है।

× × × ×

संसारमें जो वस्तु आपके हक (अधिकार) की और प्राप्त है, वह भी सदा आपके साथ नहीं रहेगी, फिर जो वस्तु बिना हककी और अप्राप्त है, उसकी आशा करनेसे क्या लाभ है ?

× × × ×

कल्याणकी प्राप्ति बहुत सुगम है, पर कल्याणकी इच्छा ही नहीं हो तो वह सुगमता किस कामकी ?

× × × ×

किसी एक मार्गका आग्रह रखनेसे तथा दूसरे मार्गोंका विरोध करनेसे पूर्णताकी प्राप्तिमें बड़ी बाधा लगती है।

× × × ×

विचार करो—हम अपनी जानकारीका खुद ही निरादर करेंगे तो फिर उन्नति कैसे होगी ?

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मैंने तो केवल पुराना हिसाब चुकता किया है, कोई उपकार नहीं

कुछ वर्षों-पूर्वकी बात है, एक मारवाड़ी नवयुवक जीवन-निर्वाह-हेतु कामकी खोजमें बंबई गया था। पहननेके कपड़े तथा एक लोटेके अतिरिक्त उसके पास और कोई सामान नहीं था। तीन दिन तो वह यों ही इधर-उधर भटकता रहा और रात्रिमें फुटपाथपर ही सो जाता। एक दिन उसे एक पुराना परिचित व्यक्ति मिला और दयावश उसने एक सार्वजनिक धर्मशालाके ट्रस्टीके नाम पत्र लिख दिया—'इस गरीब लड़केको कामपर लगा दें।'

नवयुवक पत्र लेकर धर्मशालाके ट्रस्टीके पास गया। ट्रस्टीने उससे कहा—'ठीक है, आज तो तुम जाओ, कल पहली तारीख है, अतः कलसे कामपर आना, तुम्हें धर्मशालाके पहरेदारका काम करना पड़ेगा।' लड़का प्रसन्न हो गया और हाथ जोड़कर बोला—'सेठजी! आप आज्ञा दें तो मैं धर्मशालामें ही आजकी रात बिताकर कल सबेरेसे कामपर लग जाऊँ।'

सेठजीने बात मान ली। दूसरे दिन वह कामपर लग गया। सायंकाल सेठजी आये और उसे काम समझाते हुए बोले—'देखो, तुम्हें यहाँ धर्मशालामें प्रतिदिन कौन आते हैं और कौन जाते हैं, इसका विवरण रजिस्टरमें लिखना होगा और यदि किसीको बरतन आदि दिये जायँ तो उसे भी लिखना है। धर्मशालाका ठीक-ठीक ख्याल रखना है।'

लड़केने कहा—'सेठजी! मैं धर्मशालाका ख्याल तो ठीक-ठीक रखूँगा पर कुछ लिख-पढ़ नहीं सकूँगा।'

सेठजी बोले—'क्यों?'

लड़केने कहा—'सेठजी! मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता।'

'ओह! ऐसी बात है। हमें तो ऐसा आदमी चाहिये जो पहरा भी दे और सब कुछ लिख-पढ़ भी सके। तब तो तुम इस कामके योग्य नहीं हो। तुमने आज जो काम किया है, उसके ये आठ आने ले लो और काम छोड़ दो।'

लड़केका मुँह लटक गया। वह जैसे ही बाहर पहुँचा, सेठने पुनः उसे बुलाया और जेबसे पैसे निकालकर कहा—'लो यह आठ आना और ले लो। तुम्हें यह मैं अपनी ओरसे दे रहा हूँ।'

यों एक रुपया लेकर लड़का चला गया। इस रुपयेसे उसने जैसे-तैसे दस दिनतक काम चलाया। ग्यारहवें दिन उसे सट्टा बाजारमें एक सेठके यहाँ कागज-पत्र पहुँचानेका काम मिल गया। दैवयोगसे कुछ वर्षोंके बाद वह सट्टेका बहुत बड़ा व्यापारी बन गया और सुखसे रहने लगा। अब वह सेठजी कहलाने भी लगा था। इधर वह धर्मशालावाली संस्था अत्यन्त घाटेमें आ गयी थी।

कुछ दिनों-बादकी बात है, एक नवयुवक एक सार्वजनिक संस्थाकी सहायताके लिये रुपया माँगने इनके पास आया। संस्थाका नाम सुनकर सेठजी समझ गये थे कि एक दिन मैं इसी संस्थासे निकाल दिया गया था। तब उन्होंने तुरंत उसे एक लाख रुपये दे दिये। वह बहुत प्रसन्न हुआ। जब उसने जाकर अपने पिताको यह बात बतलायी तो वे कहने लगे—'बेटा! वे तो कोई दानी महापुरुष मालूम होते हैं, कल मैं तुम्हारे साथ चलकर उनसे मिलूँगा।'

दूसरे दिन दोनों पिता-पुत्र सेठके पास गये। सेठ कुछ देरतक वृद्ध पुरुषकी ओर देखते रहे। वृद्धने कहा—'वृद्धावस्थाके कारण इस संस्थाकी देख-रेखका काम मुझसे सँभलता नहीं, इसलिये अब मेरे पुत्रने इस कामको सँभाल लिया है। आपने एक लाख रुपये सहायतार्थ दिये, इससे मुझे बड़ा आनन्द हुआ, इसीलिये मैं आपके दर्शन करने चला आया।'

सेठने कहा—'मैंने तो कुछ भी नहीं किया, यह तो बहुत छोटी-सी रकम है। अब आप स्वयं ही आये हैं तो मैं आपको ये एक लाख रुपये और देता हूँ, इस रकमको आप अपनी इच्छानुसार दान आदि कार्योंमें लगाइयेगा।' यह कहकर उन्होंने एक लाख रुपये वृद्धके हाथोंपर रखते हुए पुनः कहा—'इसमें कोई उपकार या दान नहीं है। यह तो मैंने अपना पुराना हिसाब चुकता किया है।'

अवाक् हो वृद्धने कहा—'मैं आपका मतलब समझा नहीं। आप क्या कहना चाहते हैं ?'

कुछ रुककर सेठजी बोले—'वर्षों-पहले जब मैं इस शहरमें आया था, तब जिस संस्थाकी आप बात कर रहे हैं, उसमें मैंने एक दिन नौकरी की थी और उसके मेहनतानेमें आपने ही आठ आने मुझको दिये थे। उन आठ आनेके बदलेमें इस संस्थाको मैंने एक लाख रुपये दिये हैं। नौकरीसे अलग करनेके बाद आपके हृदयमें मेरे प्रति दयाभावका संचार हुआ और आपने मुझे वापस बुलाकर अपनी जेबसे आठ आने दान-स्वरूप दिये थे। उसके बदलेमें यह एक लाख रुपये आज मैं आपको दे रहा हूँ।' यह सुनकर वृद्ध अपलक उनकी ओर कुछ देर देखते रहे और फिर उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। वे पिता-पुत्र दोनों श्रद्धासे अवनत हो गये।

ये व्यापारी सेठ श्रीगोविन्दराम थे। बंबई शहरके उद्योग-क्षेत्रमें तथा दानशीलताके लिये यह नाम प्रसिद्ध रहा है।

—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश'

(२)

भिखारीकी आत्मकथा

कई वर्ष-पूर्वकी घटना है। एक शहरमें कपड़ेका एक धनी व्यापारी रहता था। वह अत्यन्त ही विनम्र स्वभाव एवं दानी प्रवृत्तिका था। धनी व्यापारी समाज-सेवी संस्थाओं, मन्दिरों आदिको सहायता पहुँचाया करता था। जितना ही वह उत्तम प्रवृत्तिका था, उसकी पत्नी भी संयोगवश उतनी ही उत्तम स्वभाव एवं धार्मिक प्रवृत्तिकी थी। उसकी पत्नी सर्वदा साधु-महात्माओंके सेवा-सत्कारमें तल्लीन रहती।

एक बार सेठजी व्यापारके सम्बन्धमें किसी दूसरे शहरमें गये हुए थे। अपना कार्य पूर्ण करनेके पश्चात् जब सेठजी अपने शहर लौटे तो रातके दो बज चुके थे। सेठजीका बँगला रेलवे-स्टेशनके निकट ही था। सेठजी पैदल ही घरके लिये चल पड़े। जैसे ही कुछ दूर गये कि उन्हें किसीके कराहनेकी आवाज सुनायी दी। सेठजीने पहले तो ध्यान नहीं दिया, परंतु कुछ कदम और आगे बढ़नेपर दोबारा कराह सुनायी पड़ी, फिर सेठजी कराहनेकी आवाजकी ओर मुड़ पड़े। उन्होंने देखा, एक नंगा दुबला-पतला भिखारी कुछ चिथड़ोंको लपेटे सर्दीमें सिकुड़ रहा है। उसने सेठको देखते ही गिड़गिड़ाती जबानसे कहा—'साहब ! कुछ पैसे दे दें, चाय पी लूँगा।'

सेठजीने हाथ पकड़कर उसे उठाया तथा अपना बहुत कीमती शाल ओढ़ा दिया और अपने साथ चलनेको कहा। भिखारीने कहा—'सेठजी ! आपको सर्दी लग जायगी, मैं तो मर ही रहा हूँ। आप ऐसा कष्ट न करें।' सेठजी बोले—'भैया ! मैंने काफी कपड़े पहन रखे हैं, अतः मुझसे अधिक आवश्यकता इसे ओढ़नेकी आपको है।' उसने फिर कहा—'आप मुझे दो-चार पैसे दे दीजिये, भिखारीको घर ले जाकर आप क्या करेंगे ?' सेठजीने उसके भावोंसे अनुमान लगाया कि यह कोई साधारण भिखारी नहीं है। फिर बहुत कहने-सुननेके उपरान्त सेठजी उसे अपने साथ लिवा ले गये।

घर पहुँचकर सेठजीने उसे खाना खिलवाया तथा उसका खूब स्वागत-सत्कार किया। जिस कमरेमें वे स्वयं सोते थे, उसीमें उसके लिये भी चारपाई लगवा दी, फिर दोनों परस्पर बातें करने लगे। भिखारी कहने लगा—'मैं भी पहले कपड़ेका बड़ा धनी व्यापारी था। देशके विभाजनके समय मैं लाहौरमें रहता था। कुछ दंगाइयोंने शहरके एक सम्प्रदायके घरमें आग लगा दी। सब इधर-उधर भागने लगे। उस समय मैं और मेरे दो नौकर हम तीनों दुकानपर ही थे कि दंगाइयोंने आकर हमें मारना शुरू कर दिया। मैं अधमरा होकर बाहर सड़कके किनारे गिर पड़ा। एक नौकर मार दिया गया और एकको कुछ बतानेपर छोड़ दिया और उसे उन सबने भगा दिया। मेरे सम्मुख ही मेरी दुकानमें आग लगा दी गयी। कुछ होश आनेपर मैं घरकी ओर गया। दुकान तो पूर्णतः जल ही चुकी थी, घर देखा तो वहाँ कोई नहीं मिला। मेरे दो बच्चे मेरी बूढ़ी माँ तथा सुन्दर एवं सुशील मेरी धर्मपत्नी सभी शहर छोड़कर भाग चुके थे। मैं जैसे-तैसे भारत आ पहुँचा। जब कई दिन भूख-प्याससे तड़पते-तड़पते न रहा गया तो अनायास ही मेरा हाथ एक साहबके सामने फैल गया। तबसे अबतक यह सिलसिला चला आ रहा है। मेरी धर्मपत्नी, बच्चों तथा माँका कहीं पता न चला। उन्हींको खोजते हुए मैं इस रूपमें शहरमें भटक रहा हूँ, आज यह अपनी दास्तान पहली बार मैंने आपको सुनायी है।' ऐसा कहते हुए भिखारीने ऊपर

दृष्टि उठाकर देखा तो सेठकी आँखें भीगी हुई थीं। उसकी दुःखभरी कहानी सुनकर सेठजीका हृदय पसीज गया। उन्होंने उसे अनेक प्रकारसे सान्त्वना प्रदान की और कहा—'आप भिखारी नहीं हैं, यह तो मैं पहले समझ गया था, अब आप मेरे साथ यहीं रहें। आपके परिवारवालोंको भी मैं ढुँढ़वानेका प्रयत्न करूँगा। आप अनुभवी व्यक्ति हैं, व्यापारमें आपको पूर्ण अनुभव है, अतः कल सुबहसे आप मेरे भाईके रूपमें मेरे व्यापारमें मेरा हाथ बँटायें। भिखारीने स्वीकृतिमें मात्र सिर हिला दिया।

—ठा॰ रामपाल सिंह

(३)

श्रीमद्भागवतके सप्ताह-श्रवणसे प्रेतयोनिसे मुक्ति

आजके वैज्ञानिक युगमें कुछ लोग श्रीगरुडपुराण तथा श्रीमद्भागवत आदि सद्ग्रन्थोंकी बातोंपर विश्वास नहीं करते, अपितु उनका मखौल उड़ाते हैं और उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते देखे जाते हैं। किंतु यदा-कदा कुछ ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं, जिन्हें देख-सुनकर प्रेतयोनि और पुनर्जन्मका अपलाप नहीं किया जा सकता। एक ऐसी ही घटना है—श्रीदुर्गा माध्यमिक विद्यालय, बरेबा (नेपाल) में अध्यापन-कार्यरत युवक उदयका फूल-सा शरीर दिनानुदिन सूखकर काँटा बनता जा रहा था। ओषधियोंका कुछ भी प्रभाव नहीं हो रहा था। कभी-कभी दौरा भी आ जाता। इसे कोई मिरगी (अपस्मार) तो कोई प्रेतका प्रभाव कहते। न जाने कितने ओझाओं और तान्त्रिकोंने उस बेचारेकी झोली खाली कर दी। अन्तमें काठमाण्डूके एक गुणी तान्त्रिकने बतलाया कि उसपर उसके पिता पुरी बाजेका दौरा आता है। फिर एक दिनके दौरेमें अपने पिताकी प्रेतात्मासे अभिभूत युवक उदय बकने लगा—'उसपर चार अन्य प्रेतात्माओंका दौरा होता है। इस कष्टसे मुक्ति पानेके लिये उसे श्रीमद्भागवतका सप्ताह-पाठ करवाना होगा।' तदनुसार श्रीमद्भागवतके सप्ताहका आयोजन हुआ। श्रीमद्भागवत-सप्ताहकी पूर्णाहुति दिनाङ्क २४ अगस्त १९८८ ई॰ के दिन हुई। कलशके पुनीत जलसे अभिषेक होते ही युवक उदय काँपने लगा। उसकी लाल-लाल आँखें देखकर और उसकी गर्जना सुनकर दर्शक थर्रा उठे। युवक उदयकी माता और पत्नीकी दशा देखकर उपस्थित लोगोंकी आँखोंसे भी आँसू बह चले। अनुनय-विनय करनेपर पुरी बाजेकी प्रेतात्मा बोलने लगी। उसके घरके पीछे काठवाले घरमें उसी परिवारके अकाल-मृत्युग्रस्त चार प्रेतात्माओंका बसेरा है। उस घरमें एक दिन युवक उदय गया था। उसी दिनसे प्रेतोंने उसपर प्रभाव शुरू कर दिया। उन प्रेतोंसे अपने पुत्रकी रक्षा करनेके लिये पुरी बाजेकी प्रेतात्मा दौरा करती थी।

भागवत-सप्ताहकी समाप्ति होनेपर भी उसे क्यों सताया जा रहा है, इस प्रश्नके उत्तरमें प्रेत बोला—'पुरी बाजेकी अरथीमें उदयके छोटे भाई विनयने कंधा नहीं लगाया था, अब यदि सप्ताहमें खड़े किये गये प्रेतके प्रतीक बाँसको विनय कंधेपर उठाकर नदीके जलमें प्रवाहित कर देगा तो सबको छुटकारा हो जायगा।' वैसा ही किया गया। तबसे उपद्रव शान्त है।

आत्मा यद्यपि शुद्ध-बुद्ध और स्वभावतः मुक्तस्वरूप ही है तथापि जीवकोटिमें आ जानेपर उसे अनेक धर्म-कार्योंका निर्वाह भी आवश्यक होता है। उसे काम, क्रोध और लोभादि दोषोंके प्रभावसे प्रेतत्व आदि अनेक दुर्दशाएँ भोगनी पड़ती हैं, अतः उसकी सद्गतिके लिये और विशुद्ध आत्माको स्वरूपस्थ करनेके लिये गीता, भागवत, रामायण, उपनिषद् आदि ग्रन्थोंका वाचन, गया-श्राद्ध आदि पुनीत कर्मोंका करना आवश्यक होता है। इसलिये ऐसी घटनाओंपर आश्चर्य न कर जैसे भी हो सदा सद्धर्म एवं श्रेष्ठ जप, तप, ध्यान आदिमें परायण रहना चाहिये।

—हरिवंशनारायण

'किसीके भी ऊपरके आचरणोंको देखकर उसे पापी मत मानो। हो सकता है कि उसपर मिथ्या ही दोषारोपण किया जाता हो और वह उससे अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेकी परिस्थितिमें न हो। अथवा यह भी सम्भव है कि उसने किसी परिस्थितिमें पड़कर अनिच्छासे कोई बुरा कर्म कर लिया हो, परंतु उसका अन्तःकरण तुमसे अधिक पवित्र हो।'

मनन करने योग्य

(१)

निजी सम्पत्ति

शिकारके लिये जंगलमें भटकता ईरानी शाहंशाह अब्बास बाँसुरी बजानेवाले एक चरवाहे बालककी हाजिरजवाबीसे प्रसन्न हो उसे शाही-दरबारमें ले आया और शाहंशाहने उसे कोषाध्यक्षका पद दे दिया। उस बाँसुरीवादक बालकका नाम था मुहम्मदअली बेग।

शाहंशाह अब्बासके बाद उसका अवयस्क पौत्र शाहसफी गद्दीपर बैठा। कुछ स्वार्थी और धूर्त लोगोंको मुहम्मदअली बेगका मान-सम्मान बहुत अखरता था, इसलिये उन लोगोंने शाहसफीके कान भरे कि कोषाध्यक्ष मुहम्मदअली बेग शाही खजानेका दुरुपयोग करता है। शाहसफी उनकी बातोंमें आ गया।

एक दिन अकस्मात् शाहसफीने मुहम्मदअली बेगके निवासका निरीक्षण किया। चारों ओर सादगीका राज्य था। निराश होकर शाहसफी लौटनेको हुआ, तभी उन धूर्त और स्वार्थी नौकरोंने शाहसफीका ध्यान एक ऐसे कक्षकी ओर खींचा, जिसमें तीन मजबूत ताले लटक रहे थे।

शाहने मुहम्मदअली बेगसे पूछा—'इसमें कौन-सा माल छुपा रखा है बेग?'

'बहुत कीमती चीजें!' मुहम्मदअली बेग सिर झुकाकर बोला—'इसमें मेरी निजी सम्पत्ति है।'

'लेकिन शासकको प्रजाकी निजी सम्पत्ति तलब करनेका भी हक है।' शाहसफीकी निगाह मुहम्मदअली बेगपर स्थिर हो गयी।

'बेशक परवरदिगार! लेकिन शासकको उसे छीननेका हक नहीं है।'

'हम उसे देखें तो सही।'

ताले खोले गये। कक्षके बीचोबीच एक तख्तपर कुछ चीजें करीनेसे रखी थीं—एक बाँसुरी, शीशेकी सुराही, लाठी, फटी-पुरानी पोशाक और दो मोटे ऊनी कम्बल तथा एक खाना खानेकी थाली।

मुहम्मदअली बेग बोला—'ये ही हैं मेरी कीमती चीजें। स्वर्गीय शाहंशाह अब्बाससे मेरी पहली भेंट हुई थी, तब मेरे पास यही चीजें थीं। आज भी मेरे पास अपनी निजी सम्पत्तिके नामपर यही चीजें हैं।'

शाहसफीके कान भरनेवालोंके मुँह लटक गये, लेकिन शाहसफीकी निगाहमें मुहम्मदअली बेगकी कीमत बढ़ गयी। और आज उसकी आँखें भी खुल गयीं।

(२)

जैसा जिसका बोल, वैसा उसका मोल

किसी बादशाहका दरबार लगा था। अमीर-उमरावों और राज्यकर्मचारियों तथा विद्वानोंसे दरबार पूरी तरह खचाखच भरा था। बादशाहके दरबारमें आज एक अंधा गायक पहली बार आया था। वह भी बादशाहके आनेकी प्रतीक्षामें दरबारमें एक किनारे बैठा हुआ था।

तभी बादशाह सलामतकी सवारी आयी। नये आये अंधे गायकको देखकर बादशाहने कहा—'क्यों सूरदास अच्छे तो हो?'

गायक सूरदास बोला—'हाँ, जहाँपनाह! आपकी दुआसे अच्छा ही हूँ।' उसके बाद फिर दीवानने भी पूछा—'क्यों सूरदास कैसे हो?'

सूरदासने कहा—'हाँ दीवानजी, ठीक तो हूँ।'

कुछ देर बाद एक सैनिकने सवाल किया—'क्यों बे अंधे, ठीक तो है न?'

गायक सूरदास बोला—'हाँ जमादार, ठीक हूँ।'

फिर तीसमारखाँ सिपाही आया। बोला—'हट बे अंधे, बीचमें कहाँ बैठा है?'

अंधे गायकने जवाब दिया—'हाँ मियाँ तीसमारखाँ, हट तो रहा हूँ।'

इस अंधे गायकने सभीको पहचान लिया था। बादशाहको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने अंधे गायकको निकट बुलवाकर पूछा—'सूरदास! आपने सबको कैसे पहचान लिया?'

गायक सूरदासने जवाब दिया—'खुदाबंद! जैसा जिसका बोल, वैसा उसका मोल।'

गायक सूरदासकी बात सुनकर बादशाह अत्यन्त खुश हो उठा। उसने उसका संगीत देरतक सुना, फिर पर्याप्त इनाम देकर उसे बिदा किया।

(३)

अद्भुत प्रेरणा

महात्मा सुकरात यूनानके बहुत बड़े विद्वान् और दार्शनिक हुए हैं। कहा जाता है कि ये जितने शान्त-सरल और नरम स्वभावके थे, उनकी पत्नी उतनी ही तेज, गरम-मिजाज तथा क्रोधकी साक्षात् मूर्ति थी। अपने पतिको सतानेमें उसे बहुत सुख मिलता था। मीठा बोलना तो वह जैसे जानती ही नहीं थी। लेकिन सुकरात थे कि सब कुछ चुपचाप सुनते रहते और सहन करते रहते। प्रत्युत्तरमें कभी एक भी शब्द न बोलते।

महात्मा सुकरात जब भी कोई पुस्तक पढ़ते, तब वह चीख उठती—'आग लगे इन मरी पुस्तकोंको। इन्हींके साथ ब्याह कर लेना था, मेरे साथ क्यों किया?'

एक दिन जब महात्मा सुकरात अपने कुछ शिष्योंके साथ घर आये, तो उनकी पत्नी उनपर बरस पड़ी और उन्हें जली-कटी सुनाने लगी। महात्मा सुकरात शान्त बैठे सुनते रहे। इससे उनकी पत्नी मारे क्रोधके इतनी पागल हो उठी कि उसने एक पात्रमें कीचड़ भरकर सुकरातपर डाल दिया।

महात्मा सुकरातके शिष्योंने सोचा कि अब सुकरात अवश्य क्रोधित हो उठेंगे, लेकिन वे हँसकर बोले—'देवि! आज तो पुरानी कहावत झूठी हो गयी। कहा जाता है कि गरजनेवाले बरसते नहीं। आज देखा कि जो गरजते हैं, वे बरसते भी हैं।'

लेकिन उनके एक शिष्यको अपने गुरुका यह अपमान सहन न हुआ। वह क्रोधमें चीखकर बोला—'यह स्त्री तो दुष्ट है, आपके योग्य नहीं।'

महात्मा सुकरात बोले—'नहीं, यह मेरे ही योग्य है। यह ठोकर लगा-लगाकर देखती रहती है कि सुकरात कच्चा है या पक्का? इसके बार-बार ठोकर लगानेसे मुझे भी पता लगता रहता है कि मुझमें सहन-शक्ति है या नहीं?' मुझे तो इससे अद्भुत प्रेरणा मिलती रहती है। —गोपालदास नागर

भगवान्‌पर विश्वास करके आगे बढ़ो

याद रखो—विश्वास प्रतिकूल परिस्थितियोंके सँकरीले और कँटीले पथमें निर्द्वन्द्व चलता है, प्रतिकूलता उसे स्पर्श नहीं कर सकती—हिला नहीं सकती। चारों ओरसे जब विरोधका बवंडर चल रहा हो, सब कुछ प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल दीख रहा हो तो भी सच्चा विश्वास क्षीण नहीं होता, घटता नहीं। एक बार जब तुमने डंकेकी चोट इस सनातन सत्यकी घोषणा कर दी कि एकमात्र प्रभु ही हमारे भर्ता, निवास, शरण और सुहृद् हैं, तब फिर 'यह न हुआ और वह न हुआ' की व्यर्थ परेशानीमें क्यों पड़ते हो? इसका मतलब क्या यह न समझ लिया जाय कि तुम भगवान्‌की अपेक्षा पदार्थोंको अधिक महत्त्व देते हो? क्या इसका अर्थ यह न हुआ कि तुम सनातन सत्यसे विमुख होकर विषयोंके सामने मस्तक टेक रहे हो?

भगवद्विश्वासके द्वारा प्रतिकूल परिस्थितियोंको काबूमें लाया जा सकता है, उन्हें जीता जा सकता है, परंतु किसी पदार्थविशेष अथवा प्रणालीविशेषके पीछे पागल होनेकी क्या आवश्यकता? तुमने यह कैसे मान लिया कि अमुक पदार्थ अमुक ढंगसे प्राप्त हो जाय तभी तुम्हारी प्रतिकूल परिस्थिति टल जायगी? क्या ऐसा मानना सरासर धोखा नहीं है, आत्मवञ्चना नहीं है? क्या तुम्हारी आवश्यकताओंका ज्ञान प्रभुकी अपेक्षा तुम्हें ही अधिक है? तुम्हारी इस मनोवृत्तिका तो स्पष्ट अर्थ यह है कि तुम भागवती शक्तिपर निर्भर नहीं हो, वरन् तुम्हें अपने बुद्धि-कौशल और शरीर-बलपर अधिक विश्वास है, तुम इन्हींका आधार लिये हुए हो।

पहले तुम अपनी आवश्यकताओंको ठीक-ठीक समझ तो लो, यह जान तो लो कि सनातन सत्यकी दृष्टिसे इनकी क्या सत्ता है? यह जान लेनेके बाद तुम यह सोच सकते हो कि तुम्हारी अमुक आवश्यकताकी पूर्ति अमुक ढंगसे होनी चाहिये। उदाहरणके लिये—मान लो कि तुम्हें सुखकी, आनन्दकी आवश्यकता है। अब यह सुख कैसे प्राप्त होगा—सैर-सपाटेसे, अमुक मित्रके मिल जानेसे, अमुक स्त्रीसे शादी हो जानेसे, इतना धन मिल जानेसे, वह कोठी

अपनी हो जानेसे, अपने घर मोटर हो जानेसे—आदि-आदि। तुम चिन्ताओंका जाल बुनने लगते हो। एक क्षणके लिये भी ठहरकर तुम भगवान्‌की इच्छाकी ओर दृष्टि नहीं डालते। अपने सुखको तुमने पदार्थ-विशेषकी प्राप्तिमें मान रखा है? ऐसा तो मत करो, अपने सुखको किसी चीजमें सीमित न कर लो, क्योंकि सम्भव है कि भगवान्‌ने तुम्हारे लिये अधिक अच्छी चीज चुन रखी हो।

यह निश्चय मानो कि समस्त सुखोंका मूल स्रोत एकमात्र भगवान् हैं, यह सुख भगवान् चाहे जिस प्रकार तुम्हारे पास पहुँचावें, उसे आनेके लिये रास्ता दो। सारा आनन्द, समस्त सुख एकमात्र प्रभुसे आता है। प्रभुके चरणोंमें ही आनन्दका उत्स है, वहीं आनन्द झरता रहता है। इस बातको कभी भूलो मत, यह त्रिकाल सत्य है।

समस्त सुखोंका एकमात्र आगार परमात्मा है—यह जानकर जब तुम सुखोंके आनेके लिये अपना द्वार खोल दोगे, तब तुम देखोगे कि शत-शत, सहस्र-सहस्र धाराओंमें आनन्द तुम्हारी ओर उमड़ा चला आ रहा है—जिसकी तुम्हें कल्पना भी न थी। भगवान्‌के हाथमें अपना हाथ देकर यदि तुम उनके मार्गमें दृढ़तापूर्वक निष्ठापूर्वक चलते चलो, उनके अक्षय आनन्दसिन्धुमें डुबकियाँ लगाते चलो, किसी पदार्थविशेष या परिस्थितिविशेषमें अपने जीको न अटकाओ, आसपासके लुभावने दृश्यों और ललचीले पदार्थोंपर लोभभरी दृष्टि न डालो तो सच मानो तुम्हारा आनन्द तुम्हें असंख्य मार्गोंसे प्राप्त होता रहेगा। आसपासका ललचीला बाजार तो तुम्हारे मनकी रचना है जो सदा तुम्हें लक्ष्यभ्रष्ट करनेपर लगा हुआ है।

एक बार जब तुमने अपना लक्ष्य स्थिर कर लिया तो फिर चाहे जो कुछ हो जाय उससे विमुख मत हो, डिगो मत। अपने लक्ष्यकी ओर दृढ़ निष्ठा एवं अपूर्व लगनके साथ बढ़ते चलो, बढ़ते चलो। कदापि, एक क्षणके लिये भी संदेहमें मत पड़ो, व्यर्थ चिन्ता मत करो, डरो मत, बे-मतलब परेशान मत हो, असफलताके भयसे काँपो मत। यह तुम्हारा भय व्यर्थ है, अनावश्यक है। विश्वास करो, भगवान् इस पथमें तुम्हारे सहायक हैं, वे ही तुम्हारे साथ-साथ चल रहे हैं। फिर उन्हें अपने हृदयका पूरा योग क्यों न प्रदान करो? प्रीतिपूर्वक आनन्दसहित क्यों न इस मार्गमें चलते चलो? भगवान् तुम्हें पुकार रहे हैं। उनकी वाणीका अनुसरण करो, उनको सामने देखते हुए बढ़े चलो। वही—भगवान् ही हमारे-तुम्हारे सबके लक्ष्य हैं, सबकी वही 'गति' हैं।

उक्त कथनका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि संसारकी सारी बातोंसे तुम अपनेको पृथक् कर लो। परंतु तुम्हें इतना जान लेना चाहिये कि संसारकी सारी वस्तुओंका आधार एकमात्र भगवान् हैं। तुम्हें सदा सावधान रहना चाहिये कि तुम संसारमें रहते हुए भी संसारके नहीं हो, जब तुम यह जान जाओगे कि समस्त सृष्टिका मूलाधार एकमात्र भगवान् है, तब तुम्हें अपनी प्रत्येक क्रियामें एक अपूर्व अलौकिक रस आने लगेगा, क्योंकि तब तुम्हें किसी प्रकारका भय, संदेह, घृणा, लोभ, अशान्ति आदि आसुरी वृत्तियाँ सता न पायेंगी।

इसलिये याद रखो—वस्तुतः तुम प्रभुके अमृत पुत्र हो, तुम्हारे भीतर भगवान्‌की जो शक्ति है उसके द्वारा सुख और सफलताके समस्त साधनोंपर तुम्हारा एकतन्त्र अधिकार है। भगवान्‌के इस वरदानको ग्रहण करनेके लिये दृढ़ निष्ठाके साथ तुम अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ो।

सब भगवान्‌के शरीर हैं

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भागवत ११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणिमात्र, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा और भी जो कुछ भूतजात हैं, वे सब हरिके ही तो शरीर हैं, अतः सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करे।

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, वि॰ सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१७

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.५० रु॰ विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ५५.००रु॰ विदेशमें ५ पौंड अथवा ८ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

सिंहासनासीन श्रीसीताराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥

वर्ष ६५ | गोरखपुर, वि॰सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१७ | संख्या १२ | पूर्ण संख्या ७८१

चरण-सेवाकी प्रार्थना

त्वां तु दयालुमकिंचनवत्सलमुत्पलहारमपारमुदारं
राम विहाय कमन्यमनामयमीश जनं शरणं ननु यायाम्।
त्वत्पदपद्ममतः श्रितमेव मुदा खलु देव सदाव ससीत
त्वां भजतो रघुनन्दन देहि दयाघन मे स्वपदाम्बुजदास्यम् ॥ (श्रीसीतारामाष्टक)

हे मेरे स्वामी राम ! गलेमें कमलपुष्पोंकी माला धारण करनेवाले आप-सदृश अतिशय उदार, दीनवत्सल और दयामय प्रभुको छोड़कर मैं और किस अनामय पुरुषकी शरण लूँ। अतः मैंने तो आपके ही चरण-कमलोंका आसरा लिया है। हे सीताजीके सहित राम ! आप प्रसन्न होकर मेरी सर्वदा रक्षा कीजिये और हे दयामय रघुनन्दन ! आपका भजन करनेवाले मुझको अपने चरण-कमलोंकी दासता दीजिये।

कल्याण

याद रखो—भगवान्‌के शक्तिसमन्वित स्वरूपको ही युगलस्वरूप कहा जाता है। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है और शक्ति है—इसीसे वह शक्तिमान् है और इसीलिये वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह युगलस्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही लीला-चमत्कारके लिये पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता।

याद रखो—वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषण-समूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका प्रकाश, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव वर्तमान है, वैसे ही ब्रह्ममें युगलभाव है। वे नित्य दो होकर (व्यावहारिक सत्ताकी दृष्टिसे नहीं वस्तुतः) भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं, वे नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। वे एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं।

याद रखो—परम तत्त्वस्वरूप ब्रह्म 'सर्वातीत' भी है और 'सर्वकारणात्मक' भी है। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका संधान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैत पूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। वह चरम तथा परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अतीत, पूर्णतया अनवच्छिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप है और वही समस्त देशों, समस्त कालों, सारी अवस्थाओं और सम्पूर्ण परिणामोंके द्वारा अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दस्वरूपकी—अपनी नित्य, सत्य, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी कर रहा है। जहाँ किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करने योग्य, चिन्तन करने योग्य और धारणामें लाने योग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है, वहीं उसी कालमें, वही कालातीत, अवस्था-परिणामशून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त-अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्मा ही सर्वकालोंमें, समस्त देशोंमें तथा सम्पूर्ण वस्तुओं एवं स्थितियोंमें नित्य विराजित है। वह परम तत्त्वस्वरूप सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें नित्य अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, नित्य अभेद, परिणामशून्य, अद्वय परम तत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। वही विश्वातीत है, वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व भी है।

याद रखो—वह परम तत्त्व भगवान् एक ही अनेक बना हुआ है। वस्तुतः न तो वह एक अवस्थासे किसी दूसरी अवस्थामें जाता है, न जाना चाहता है और न उसकी सहज नित्यस्वरूप स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और फल, भूत और भविष्य, दूर और समीप, एक और बहुत—ये सभी भेद उस परमात्मामें नित्य अभेद-रूपसे लीलायमान हैं, क्योंकि वह पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता सर्वथा विशुद्ध अभेद-भूमि है। उस अभेद-भूमिमें नित्य सत्य चैतन्यघन परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको सदा-सर्वदा आलिङ्गन किये रहता है।

याद रखो—अकेलेमें रमणका अभाव होनेके कारण वे नित्य रमणशील भगवान् नित्य (मिथुन) युगल हैं। काल-परम्पराके क्रमसे किसी अवस्था-भेदको प्राप्त होना उनके लिये सम्भव नहीं है। इसीलिये ये नित्य-मिथुन हैं और इस नित्य-युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य आत्मरमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन अबाध चल रहा है। वे ही रस हैं—आस्वाद्य हैं और वे ही रसिक—आस्वादक हैं। वे ही लक्ष्मी हैं, वे ही नारायण हैं, वे ही उमा हैं, वे ही महेश्वर हैं, वे ही सीता हैं, वे ही राम हैं, वे ही राधा हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं, वे ही शक्ति हैं, वे ही शक्तिमान् हैं, वे ही विषय हैं, वे ही आश्रय हैं। यह उनका नित्य रसमय युगलस्वरूप तथा उनका दिव्य लीला-विहार नित्य, सत्य और सनातन है।

—'शिव'

भगवान्‌की शरणसे परमपदकी प्राप्ति

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरण* को प्राप्त हो। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होनेके लिये बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर—इन सबको सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌के अर्पण कर देनेकी आश्यकता है। परंतु यह अर्पण केवल मुखसे कह देनेमात्रसे नहीं हो जाता। इसलिये किसके अर्पणका क्या स्वरूप है, इसको समझानेकी कुछ चेष्टा की जाती है।

बुद्धिका अर्पण

भगवान् 'हैं' इस बातका बुद्धिमें नित्य-निरन्तर प्रत्यक्षकी भाँति निश्चय रहना, संशय, भ्रम और अभिमानसे सम्पूर्णतया रहित होकर भगवान्‌में परम श्रद्धा करना, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति पड़नेपर भी भगवान्‌की आज्ञासे तनिक भी प्रतिकूल भाव न होना तथा पवित्र हुई बुद्धिके द्वारा गुण और प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूप और तत्त्वको जानकर उस तत्त्व और स्वरूपमें बुद्धिका अविचलभावसे नित्य-निरन्तर स्थित रहना। यह बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण करना है।

मनका अर्पण

प्रभुकी अनुकूलतामें अनुकूलता, उनकी इच्छानुसार ही इच्छा और उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न होना, प्रभुके मिलनेकी मनमें उत्कट इच्छा होना, केवल प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, रहस्य और लीला आदिका ही मनसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करना, मन प्रभुमें रहे और प्रभु मनमें बास करें—मन प्रभुमें रमे और प्रभु मनमें रमण करें। यह रमण अत्यन्त प्रेमपूर्ण हो, और वह प्रेम भी ऐसा हो कि जिसमें एक क्षणका भी प्रभुका विस्मरण जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलतासे भी बढ़कर मनमें परम व्याकुलता उत्पन्न कर दे। यह भगवान्‌में मनका अर्पण करना है।

इन्द्रियोंका अर्पण

कठपुतली जैसे सूत्रधारके इशारेपर नाचती है—उसकी सारी क्रिया स्वाभाविक ही सूत्रधारकी इच्छाके अनुकूल ही होती है, इसी प्रकार अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर उनकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार कार्य करना और इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ भी क्रिया हो उसे मानो प्रभु ही करवा रहे हैं ऐसे समझते रहना—अपनी इन्द्रियोंको प्रभुके अर्पण करना है।

इस प्रकार जब सारी इन्द्रियाँ प्रभुके अर्पण हो जायँगी तब वाणीके द्वारा जो कुछ भी उच्चारण होगा, सब भगवान्‌के सर्वथा अनुकूल ही होगा। अर्थात् उसकी वाणी भगवान्‌के नाम-गुणोंके कीर्तन, भगवान्‌के रहस्य, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वादिके कथन; सत्य, विनम्र, मधुर और सबके लिये कल्याणकारी भाषणके अतिरिक्त किसीको जरा भी हानि पहुँचानेवाले, विषयासक्ति बढ़ानेवाले, दोषयुक्त या व्यर्थ वचन बोलेगी ही नहीं। उसके हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा, पूजा और इस लोक और परलोकमें यथार्थ हित हो, ऐसी ही क्रिया होगी। इसी प्रकार उसके नेत्र, कर्ण, चरण आदि इन्द्रियोंके द्वारा भी लोकोपकार, **'सत्यम्'** और **'शिवम्'** का सेवन आदि भगवान्‌के अनुकूल ही क्रियाएँ होंगी। और उन क्रियाओंके होनेके समय अत्यन्त प्रसन्नता, शान्ति, उत्साह और प्रेम-विह्वलता रहेगी। भगवत्प्रेम और आनन्दकी अधिकतासे कभी-कभी रोमाञ्च और अश्रुपात भी होंगे।

---

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्त्तव्य-कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना यह 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्य शरण' होना है।

शरीरका अर्पण

प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करना, यह शरीर प्रभुकी सेवा और उनके कार्यके लिये ही है ऐसा समझकर प्रभुकी सेवामें और उनके कार्यमें शरीरको लगा देना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना, सब कुछ प्रभुके कार्यके लिये ही हो यह शरीरका अर्पण है। जैसे शेषनागजी अपने शरीरकी शय्या बनाकर निरन्तर उसे भगवान्‌की सेवामें लगाये रखते हैं; जैसे राजा शिबिने अपना शरीर कबूतरकी रक्षाके लिये लगा दिया, जैसे मयूरध्वज राजाके पुत्रने अपने शरीरको प्रभुके कार्यमें अर्पण कर दिया। वैसे ही प्रभुकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार लोकसेवाके रूपमें या अन्य किसी रूपमें शरीरको प्रभुके कार्यमें लगा देना चाहिये।

बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीरको प्रभुके अर्पण करनेके बाद कैसी स्थिति होती है, इसको समझनेके लिये एक पतिव्रता स्त्रीके उदाहरणपर विचार कीजिये।

एक पतिव्रता देवी थीं, उसकी सारी क्रियाएँ इसी भावसे होती थीं कि मेरे पति मुझपर प्रसन्न रहें। यही उसका मुख्य ध्येय था। पातिव्रत-धर्म भी यही है। उसके पतिको भी इस बातका अनुभव था कि मेरी स्त्री पतिव्रता है। एक बार पतिने अपनी स्त्रीके मनके अत्यन्त विरुद्ध क्रिया करके उसकी परीक्षा लेनी चाही। परीक्षा संदेहवश ही होती हो सो बात नहीं है, ऊपर उठाने और उत्साह बढ़ानेके लिये भी परीक्षाएँ हुआ करती हैं।

एक समय पतिदेवके भोजन कर चुकनेपर वह पतिव्रता देवी भोजन करने बैठी। उसने अभी दो-चार कौर ही खाये थे कि इतनेमें पतिने आकर उसकी थालीमें एक अञ्जलि बालू डाल दी और वह हँसने लगा। स्त्री भी हँसने लगी। पतिने पूछा—'तू क्यों हँसती है ?' स्त्रीने कहा—'आप हँसते हैं, इसलिये मैं भी हँसती हूँ। मेरी प्रसन्नताका कारण आपकी प्रसन्नता ही है।' पतिने कहा—'मैं तो तेरे मनमें विकार उत्पन्न करनेके लिये हँसता था, किंतु विकार तो उत्पन्न नहीं हुआ।' स्त्री बोली—'मुझे इस बातका पता नहीं था कि आप मुझमें विकार देखना चाहते हैं। विकारका होना तो स्वाभाविक ही है, किंतु आप मुझमें विकार नहीं देखते, यह आपकी ही दया है।' इस कथनपर पतिको यह निश्चय हो गया कि उसकी स्त्री पतिव्रता है।

जो पुरुष सब प्रकारसे अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसकी भी सारी क्रियाएँ पतिव्रता स्त्रीकी भाँति स्वामीके अनुकूल होने लगती हैं। वह अपने इच्छानुसार कोई कार्य कर रहा है, परंतु ज्यों ही उसे पता लगता है कि स्वामीकी इच्छा इससे पृथक् है, उसी क्षण उसकी इच्छा बदल जाती है और वह स्वामीके इच्छानुकूल कार्य करने लगता है। चाहे वह कार्य उसके बलिदानका ही क्यों न हो ! वह बड़े हर्षके साथ उसे करता है। स्वामीके पूर्णतया शरण होनेपर तो स्वामीके इशारेमात्रसे ही उनके हृदयका भाव समझमें आने लगता है। फिर तो वह प्रेमपूर्वक आनन्दके साथ उसीके अनुसार कार्य करने लगता है।

दैवयोगसे अपने मनके अत्यन्त विपरीत भारी संकट आ पड़नेपर भी वह उस संकटको अपने दयामय स्वामीका दयापूर्ण विधान समझकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है।

यह सारा संसार उस नटवरका क्रीडास्थल है। प्रभु स्वयं इसमें बड़ी ही निपुणताके साथ नाट्य कर रहे हैं, उनके समान चतुर खिलाड़ी दूसरा कोई भी नहीं है, यह जो कुछ हो रहा है सब उन्हींका खेल है। उनके सिवा कोई भी ऐसा अद्भुत खेल नहीं कर सकता। इस प्रकार इस संसारकी सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌की लीला समझकर वह शरणागत भक्त क्षण-क्षणमें प्रसन्न होता रहता है और पग-पगपर प्रभुकी दयाका दर्शन करता रहता है।

यही भगवान्‌की अनन्य शरण है और यही अनन्य भक्ति है। इस प्रकार भगवान्‌के शरण होनेसे मनुष्य भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व, रहस्य, गुण, महिमा और प्रभावको जानकर अनायास ही परमपदको प्राप्त होता है।

'किसी भी अवस्थामें मनको व्यथित मत होने दो, याद रखो—परमात्माके यहाँ कभी भूल नहीं होती और न उसका कोई विधान दयासे रहित ही होता है।'

भगवान्‌का दान

भगवान्‌का तुम्हारे प्रति असीम-अथाह प्यार है। सच मानो, तुम उसके प्यारका थाह नहीं लगा सकते। उसने अपनी सारी अच्छी चीजें तुम्हें सौंप दी हैं। यदि तुम लाखों वर्ष भी जियो तो भी उससे अधिकको सारी आवश्यक वस्तुएँ तुम्हें उस प्रभुने दे रखी हैं। तुम्हारे लिये इतनी शक्ति, इतना शौर्य उसने इकट्ठा कर रखा है कि तुम उसे समाप्त नहीं कर सकते। भगवान्‌की दी हुई इन सारी वस्तुओंका तुम मनमाना उपयोग कर सकते हो, चाहे जितना खर्च कर सकते हो, परंतु होना चाहिये विवेकपूर्वक। विवेकके साथ भगवान्‌की दी हुई चीजोंका तुम जितना भी उपयोग करोगे, तुम्हें वे चीजें उतने ही परिमाणमें अधिकाधिक प्राप्त होती जायँगी।

और यह खटका तो मनमें रखो ही मत कि ये चीजें समाप्त हो जायँगी, क्योंकि ये असीम हैं, अथाह हैं। चाहे जितना भी प्राणायाम करो क्या भगवान्‌की दी हुई स्वच्छ हवाको समाप्त कर सकते हो? यही बात भगवान्‌की दी हुई सारी चीजोंके लिये है। तुम्हें यह भय या खटका क्यों लगा रहता है कि तुम इन्हें समाप्त कर डालोगे तो फिर आगे क्या होगा? सच पूछो तो आवश्यकता इस बातकी है कि तुम भगवान्‌की दी हुई चीजोंका स्वतन्त्रतापूर्वक, विवेकपूर्वक और यथेष्ट उपयोग करना जानो।

जिस प्रकार भगवान्‌की दी हुई हवाका कहीं ओर-छोर नहीं है, ठीक उसी तरह भगवान्‌की सृष्टिमें किसी भी बातमें, किसी भी वस्तुमें न्यूनता है ही नहीं। ज्ञानको ही लो, क्या इसका कहीं आदि-अन्त है, कहीं अथ-इति है? ज्ञानमें जितना ही आगे बढ़ते जाओ उतना ही वह असीम होता चला जाता है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक कहते हैं कि ज्ञानके एक कणमात्रका ही हम उपयोग कर पाते हैं। और 'शिक्षण'का अर्थ क्या है, जानते हो? शिक्षणका अर्थ है शिष्यके हृदयमें सोयी हुई शक्तिको जगा देना। वह शक्ति पहलेसे ही उसके हृदयमें रहती है, हाँ, सोयी रहती है। गुरु उसे जगा देता है। बाहरसे कोई ज्ञान दिया नहीं जाता, क्योंकि वह अपने-आपमें असीम है, अनन्त है, अथाह है।

ठीक इसी तरह हमारे अंदर भगवान्‌की दी हुई सभी दिव्य चेतन-शक्तियाँ छिपी हुई, सोयी हुई रहती हैं, उन्हें जगानेभरकी जरूरत है। व्यायाम तथा प्राणायामके द्वारा जब हम अपनी शारीरिक शक्तिका विकास करते हैं तो क्या कोई वस्तु बाहरसे आ जाती है जो हमारे मांस-पेशियोंको मजबूत बना देती है? दीखता तो ऐसा है कि हम जो भोजन करते हैं, उसीसे हमारा शरीर बनता है, पुष्ट होता है। बात सच है, परंतु उस भोजनसे रस कैसे बना, रसमें जीवनीशक्ति कहाँसे आयी तथा पुनः वह हमारे शरीरमें अपना कार्य कैसे-कैसे करने लगी—इसपर हमने कभी विचार किया है? और विचार करनेपर क्या यह विश्वास नहीं होता कि यह सब भी प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिसे ही होता है?

यह भगवदीय ज्ञान सभी प्राणियोंमें—मनुष्यमें, पशुमें, पक्षीमें, कीट-पतंगमें, पेड़-पौधेमें है। सभीमें—एक-एकमें इस ज्ञानका निवास है, क्योंकि इसके बिना हम बाहरसे किसी वस्तुको ग्रहण करके अपने विकासके अनुरूप बना ही नहीं सकते। तुम्हारी समस्त शक्तिके पीछे भगवान्‌की शक्ति है। भगवान्‌की ही शक्तिका एक लघु कण तुम्हारी शक्तिके रूपमें स्फुट हुआ है। यह बात तुम ठीक-ठीक जान जाओ तो तुम अनायास ही भगवान्‌की शक्तिका उपयोग कर सकते हो, उस भगवदीय शक्तिको अपनेमें प्रकाशित कर सकते हो। कारण कि तब तुम शक्तिके अथाह, अपरिमेय अनन्त सागरसे शक्ति प्राप्त करते रहोगे और अपनी शक्तिके लिये स्थूलका आधार न लोगे। जिस प्रकार प्राणायाम करनेसे तुम अपने भीतर अधिक हवा पचानेकी शक्ति बढ़ाते हो, ठीक उसी तरहसे भगवान्‌की दी हुई शक्तिका सही-सही उपयोग जान लेनेपर तुम उस शक्तिको अधिक-से-अधिक अपनेमें प्रकट कर सकते हो। तुम जितना ही खर्च करते जाओगे, उतना ही और तुम्हें मिलता जायगा।

सारांश यह कि भगवान्‌की दी हुई शक्तिका प्रयोग जो जितना ही उत्तम ढंगसे करेगा, उसे वह शक्ति उतनी ही अधिक प्राप्त होती जायगी और जो मूर्खतापूर्वक उसे नष्ट कर देगा, उसे उस शक्तिके दर्शन भी नहीं होंगे। भगवान्‌ने हमें अनेक प्रकारकी शक्ति, योग्यता, प्रतिभा आदि दी है। यदि हम इनका उपयोग नहीं करते तो वे क्रमशः क्षीण होते-होते नष्ट हो जाती हैं।

हमारा यह जीवन विकासकी एक शृङ्खला है। इसका अर्थ यह कि हम अपने भीतर शनैः-शनैः भगवदीय शक्तिका उद्घाटन करते रहते हैं और हमारा जीवन उसी अंशमें सफल और पूर्ण माना जाना चाहिये, जितने अंशमें हमने भगवान्‌की दिव्य शक्तिका अपने अंदर विकास किया है। जिसमें दैवी गुण जितना ही अधिक है वह उतना ही भगवान्‌के निकट है।

वायुकी भाँति आनन्द भी सर्वत्र व्याप्त है, परंतु उस आनन्दका विकास हम खिन्न, क्षुब्ध, उदास और क्लान्त होकर नहीं कर सकते। हँसी—जो आनन्दका एक बाह्य उपलक्षण है, संक्रामक होती है। प्रसन्न और हँसमुख व्यक्ति स्वयं स्वस्थ और मस्त तो रहता ही है, उसके आसपासका वातावरण भी प्रसन्न, स्वस्थ और आनन्दमय होता है। हँसीके फव्वारेमें आनन्द खिल उठता है। ठीक यही बात प्रेमकी भी है। जितना भी प्रेम किये जाओ, वह चुकता ही नहीं। आसपासका समस्त वातावरण प्रेममें मुग्ध, छका हुआ रहता है। मनमें, वाणीमें, क्रियामें प्रेम जितना ही छलकता हुआ प्रकट होता है—चारों ओरसे प्रेमकी शत-शत धाराएँ हमारी ओर उतने ही वेगसे चली आती हैं और हमारा समस्त वातावरण प्रेममें सराबोर हो जाता है। हम जितना ही प्रेम देते हैं, भगवान्‌का उतना ही प्रेम हमें प्राप्त होता है। और वे सचमुच अभागे हैं जो भगवान्‌के प्रेमको अपनेमें प्रकट नहीं कर पाते। हृदयमें प्रेम और दयाके भाव रखना हमारे ही लिये अत्यन्त लाभदायक हैं—उनसे दूसरोंको जो प्रेम मिलता है, जो दया प्राप्त होती है उसकी अपेक्षा हमारा ही लाभ अधिक है। और यदि तुम ऐसा सोचकर कि यह व्यक्ति हमारा प्रेम पानेका अधिकारी नहीं है, उससे प्रेम नहीं करते तो समझ लो, तुम अपने हृदय और भगवान्‌के हृदयके बीच बहती हुई प्रेमधाराको सुखा रहे हो।

देना, देते ही जाना कितना सुखकर है। लेनेकी अपेक्षा देनेमें अपार आनन्द है। देते रहनेमें भगवान्‌की अनन्त शक्तिका प्रवाह हमारी ओर मुड़ जाता है और वही शक्ति अपना कार्य हमारे द्वारा करने लगती है। ग्रहण करना और उसमेंसे देना नहीं—यह तो आत्मघात है। जीवन लेन-देनपर अवलम्बित है। देनेमें कोई निजी स्वार्थ या हेतु नहीं होना चाहिये, वह सर्वथा मुक्त हो, निःस्वार्थ हो, अहैतुक हो। और इस देनेमें आगा-पीछा सोचनेकी आवश्यकता नहीं, मुक्तहस्तसे लुटाते जाओ। दाताका भण्डार कभी खाली नहीं होता, क्योंकि सबका दाता 'राम' है। पुरानेको छोड़ते जाना और नयेको ग्रहण करते जाना—यही तो जीवन है। नवजीवनका यह अविच्छिन्न अखण्ड प्रवाह भगवान्‌की ओरसे हमारी तरफ उमड़ा चला आ रहा है। अपनी संकीर्णतासे हम उसका द्वार अवरुद्ध न कर दें। पुरानेको ही यदि हम पकड़े रहें तो नया हमें कैसे मिलेगा, जीवनके छन्दमें जो गति है, ताल-स्वर है, आरोह और अवरोहकी लहरियाँ हैं, इन्हें हम ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर सकें तो 'देते जाने' का जो आनन्द है उसे हम ठीक-ठीक समझ सकते हैं। भगवान्‌की दी हुई शक्तिका वास्तविक उपयोग भगवान्‌के कार्यमें ही करते रहना चाहिये और उसे फिर भगवान्‌के चरणोंमें निवेदित कर देना चाहिये। हम उस शक्तिके प्रयोक्ता हैं, भोक्ता नहीं—यह स्मरण रखना चाहिये।

भगवान् चाहते हैं कि तुम उनकी दी हुई चीजोंका, उनके आशीर्वादका सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग करो। भगवान्‌का प्रेम तुम्हें चारों ओरसे घेरे हुए है, तुम्हारे शरीर, मन और प्राणके कण-कणको वह दिव्य प्रेम अपने रसमें डुबोये हुए है। परंतु जबतक तुम उस प्रेमको पहचानते ही नहीं और पहचानकर उसे अपनी चेतनामें लाते नहीं, उसे प्रकट नहीं करते तबतक तो वह न होनेके समान ही है।

अहंकार और ममताका नाश ही मुक्ति है

किसी भी उपायसे अहंकार तथा ममताका नाश करनेका नाम ही मुक्ति है, फिर भी ये दोनों एक दूसरेके आश्रयमें टिके रहते हैं। इसलिये एकका नाश दूसरेके नाशका कारण बन जाता है। मन-वाक्से अगोचर ऐसी मनोदशा प्राप्त करनेके लिये नाम-रूपादिके अहंकारको निकाल देना ज्ञान-मार्ग है और भगवान्‌में ममता करके सांसारिक ममताको मार भगाना भक्ति-मार्ग है। इन दोनोंमेंसे कोई एक मार्ग पर्याप्त है। भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्गका परिणाम समान है। इसके विषयमें शंका करनेका कोई कारण नहीं है। —महर्षि रमण

पाँच प्रश्न

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ सं ७८४ से आगे]

अब यह प्रश्न रहा कि जीव क्या वस्तु है ? जीव असलमें परब्रह्म परमात्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। उन्हींका आत्मरूप सनातन शुद्ध अंश है। समुद्रके तरंगोंकी भाँति उनसे सर्वथा अभिन्न है, परंतु अनादिकालसे प्रकृति और उसके कार्योंके साथ संयोग होनेके कारण जीव-दशाको प्राप्त हो रहा है। यह सम्बन्ध प्रकृतिकी अनादिताकी भाँति ही अनादि है। अनादि न होता, कभी इसका आरम्भ होता तो जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर उन्हें भिन्न-भिन्न योनियों और स्थितियोंमें परमेश्वर क्यों रचते ? भेदपूर्ण संसारमें अकारण ही जीवोंको रचकर पटकनेसे परमात्मामें विषमता और निर्दयताका दोष आता, जो कदापि सम्भव नहीं है। प्रकृतिसे जीवका सम्बन्ध अनादि है। जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक वह कभी चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमें, कभी पञ्च प्राण, दस इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके सूक्ष्म देहमें और कभी मूल-प्रकृतिके अंशरूप कारणदेहके साथ संयुक्त रहता है। प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण ही इसकी जीव संज्ञा है और इस प्रकृतिके संगसे ही यह अच्छी-बुरी योनियोंमें जाता-आता और दुःख-सुख भोगता है (गीता १३। २१)।

यह सत्य है कि शुद्ध आत्मामें आने-जाने और जन्म-मृत्युकी कल्पना केवल आरोपित है, परंतु जबतक जीव संज्ञा है तबतक वह वस्तुतः शुद्ध आत्मारूपमें नित्य, अविनाशी, अविकारी होते हुए ही भले-बुरे कर्मोंका कर्ता, उनके फलरूप सुख-दुःखोंका भोक्ता और जनन-मरणशील है। परमात्मा, उनकी शक्ति प्रकृति, जीव और प्रकृतिके परिणाम जगत्का परस्पर सम्बन्ध अनादि है। परंतु इतनी बात याद रखनेकी है कि नित्य एकरस सच्चिदानन्दघन अव्यय परमात्मा अनादि होनेके साथ ही अनन्त भी हैं और जीव भी उनका चेतन सनातन अंश होनेसे अनन्त है। परंतु प्रकृति-शक्ति विकसित और अविकसित दो रूपोंमें रहनेवाली होनेके कारण अविकसित अवस्थामें सान्त (अन्तवाली) कही जाती है। प्रकृतिका परिणाम जगत् भी प्रवाहरूपसे अनादि और नित्य होनेपर भी विविध रंगमय है और प्रकृतिके प्रपञ्चसे छूटे हुए मुक्त पुरुषके लिये तो नष्ट हो जाता है और भिन्न स्वतन्त्र चेतन सत्ता न होनेसे परमात्माके लिये तो सर्वथा असत् ही है।

गीतामें दो पुरुषोंका वर्णन है—एक क्षर, दूसरा अक्षर। क्षर—प्रकृतिका कार्यरूप जगत् और अक्षर—नित्य चेतन आनन्दरूप परमात्माका सनातन अंश होनेपर भी अविद्यारूपी प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण असंख्य और विभिन्न रूपोंसे भासनेवाला जीव। इन दोनों पुरुषोंके परे उत्तम पुरुष परमात्मा पुरुषोत्तम नामसे वर्णित हैं। इस पुरुषत्रयके वर्णनसे कुछ लोग इसे त्रैतवाद भी कहते हैं। परंतु असलमें जीवका परमात्माके साथ अंशांशी सम्बन्ध होनेके कारण वह उनसे अभिन्न है और क्षर जगत् परमात्माकी स्वकीया शक्ति मायाका विलास है, इसलिये वह भी उनसे अभिन्न ही है। अतएव यह नामका त्रैत वास्तवमें अद्वैत ही है।

इसी प्रकार जीव-ब्रह्मकी मूलतः एकता माननेपर भी शक्तिको उनसे अलग समझ लेनेके कारण ब्रह्म-जीवकी व्यवहारमें भिन्नता माननेवालोंका द्वैतवाद भी इस दृष्टिसे उचित होनेपर भी वस्तुतः अद्वैत है। अवश्य ही जहाँ खेल है, वहाँ द्वैत है और यह द्वैत सदा अभिनन्दनीय है, परंतु खेल है अपने आपमें ही, इसलिये अद्वैत ही है। सबमें समाये हुए ये एक पुरुषोत्तम भगवान् ही नित्य विज्ञानानन्दघन नित्यमुक्त अविनाशी गुणातीत ब्रह्म हैं। वे ही सबके आदि महाकारण और शक्तिमान् मायाधीश हैं और वे ही प्रकृतिके लीलाविस्तारके समय भर्ता, भोक्ता और महेश्वर हैं। हम सबको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरण जाना चाहिये।

मेरी समझसे ज्ञानी भक्त या योगी कोई भी मुक्त पुरुष परमेश्वरकी तुलनामें नहीं आ सकता। जीवन्मुक्त महात्मा परमार्थ-दृष्टिसे तत्त्वज्ञानमें ब्रह्मके समान हो सकते हैं, जगत्-प्रपञ्चको लाँघकर आनन्दमय बन सकते हैं, मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो सकते हैं, परंतु मायाधीश कभी नहीं हो सकते। जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेकी शक्ति केवल एक नित्यसिद्ध परमेश्वरमें ही है। इसीसे यहाँतक कहा जा सकता है कि जीव ब्रह्म हो सकता है, परंतु परमेश्वर या

भगवान् नहीं हो सकता।

ब्रह्मसूत्रके—

जगद्व्यापारवर्जम् (४।४।१७)

—सूत्रके भाष्यमें पूज्यपाद स्वामी श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैव ईश्वरस्य।

'जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, विनाशके सिवा अन्य अणिमादि सिद्धियाँ महापुरुषोंमें होती हैं, परंतु जगद्व्यापारकी सिद्धि तो एकमात्र नित्यसिद्ध ईश्वरमें ही है।'

अणिमादि सिद्धियाँ भी सभी सिद्ध, ज्ञानी और भक्तोंको प्राप्त नहीं होतीं। योगमार्गसे सिद्धिप्राप्त पुरुषोंको अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, परंतु ये सभी ऐश्वर्य सीमित हैं। मायाके राज्यमें ही हैं। परमेश्वर मायाके स्वामी हैं। उनका मायापर आधिपत्य है, माया उनकी शक्ति है। वे अणिमादि योगके अष्ट ऐश्वर्योंसे परे उनसे अधिक शक्तिसम्पन्न चमत्कारी ऐश्वर्योंकी सृष्टि कर सकते हैं। वस्तुतः अणिमादि ऐश्वर्य भी ईश्वरकी ऐश्वर्यराशिका एक तुच्छ कणमात्र है। योगी ईश्वरके सृजन किये हुए परमाणुओंको सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्म कर सकते हैं, उनका इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं। परंतु नवीन सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्ति नहीं कर सकते। वे सत्यसंकल्प हो सकते हैं। वे अग्नि, जल, अस्त्र, विष आदिका इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं, परंतु ये सभी चीजें मायाके खेलके अन्तर्गत ही होती हैं। यों तो संसारमें प्रत्येक जीव ही अपने-अपने क्षेत्रमें सृष्टि, पालन, विनाश करता है। किसी चीजको बनाना, उसकी रक्षा करना और उसे नष्ट कर देना एक प्रकारसे सृष्टि, स्थिति, संहार ही है, साधारण जीवोंमें यह सामर्थ्य बहुत थोड़ी होती है, योगियोंमें साधन-बलसे इस सामर्थ्यका बहुत अधिक विकास होता है। यहाँतक कह सकते हैं कि इस विषयमें परमेश्वरके नीचे दूसरी श्रेणीमें पहुँचे हुए योगियोंको माना जा सकता है, परंतु परमेश्वरकी तुलनामें तो उनकी शक्ति अत्यन्त ही क्षुद्र रहती है।

ज्ञानी तो इन विषयोंकी परवा ही नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। फिर इस प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा ही कौन करे? भक्त अपनेको भगवान्के चरणोंमें समर्पणकर केवल उन्हींका हो रहता है। भगवान्की मङ्गलमयी इच्छा ही उसके लिये कल्याणरूप है। अतः वह भी इस शक्तिको पानेका इच्छुक नहीं होता। जिनकी इच्छा ही नहीं, उन्हें वह वस्तु प्राप्त क्यों होने लगी? कदाचित् मान लिया जाय कि सिद्धिप्राप्त योगी, तत्त्वज्ञानी या प्रेमी भक्तको यह शक्ति प्राप्त होती है, तो वह प्राप्त हुई भी अप्राप्तके समान ही है। उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। जगत्में आजतक किसी भी युगमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता कि जिसमें किसी महापुरुषने अपनी शक्तिसे ईश्वरके सृष्टिक्रमकी भाँति कुछ कार्य किया हो या कार्यतः किसीने ईश्वरत्वका परिचय दिया हो। किसीमें शक्ति हो भी तो वह भी ईश्वरकी शक्तिके अधीन ही रहती है। ईश्वरके विधानके प्रतिकूल कोई कुछ भी नहीं कर सकता। केनोपनिषद्की कथाके अनुसार वायु, अग्नि भी एक सूखे तिनकेको उड़ा या जला नहीं सकते। व्यावहारिक मायानिर्मित जगत्की प्रत्येक क्रिया सदा मायापति ईश्वरके नियन्त्रणमें रहती है। अनादिकालसे जगत्का सारा व्यापार एक ही शक्तिके नियन्त्रणमें एक ही नियमके अनुसार सुशृङ्खलरूपसे चला आ रहा है। सृष्टि, स्थिति, संहारका कोई भी विधान कभी नियमसे नहीं टलता। विश्वनाथ परमेश्वरकी इच्छामें हस्तक्षेप करनेकी किसीमें शक्ति नहीं है। ईश्वरेच्छाके अधीन रहकर ही महापुरुष अपनी योगलब्ध सिद्धियोंका उपयोग या सम्भोग करते हैं। वे दिव्यदृष्टिसे ईश्वरको पहचानकर उसीके अनुसार कार्य करते हैं। इसीसे उन्हें कभी विफलताजनित क्लेशका अनुभव नहीं होता।

महापुरुषगण योग, ज्ञान, प्रेम और आनन्दमें ईश्वरके समान होकर भी ईश्वरके आज्ञाकारी ही रहते हैं। ईश्वरेच्छाके विपरीत उनकी शक्तिका प्रयोग सर्वथा असम्भव होता है। कारण, वे इस बातको जानते हैं कि उनके अंदर ईश्वर ही कार्य कर रहे हैं। योगसिद्धिसे प्राप्त ज्ञान, प्रेम, शक्ति, ऐश्वर्य, आनन्द आदि सभी चीजें परमेश्वरकी ही हैं। उनकी इच्छा ईश्वरकी इच्छा होती है, उनके जीवनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ ईश्वरकी क्रियाएँ होती हैं; वे ईश्वरके गुण, शक्ति आदिको पाकर ईश्वरकी ही एक प्रतिमूर्ति बने हुए जगत्में लोक-कल्याणार्थ विचरण

करते हैं। उनका ऐश्वर्य परमात्म-प्रेमरूप माधुर्यमें परिणत हो जाता है। इसलिये थोड़ी देरके लिये उनमें यदि वस्तुतः ईश्वरके समान शक्तिका होना मान भी लिया जाय तब भी वह न होनेके बराबर ही होती है। क्योंकि उनकी शक्ति ईश्वरकी शक्तिके द्वारा ही प्रेरित, परिपूरित, परिचालित होती है, वह अलग कोई कार्य कर ही नहीं सकती। (समाप्त)

भगवन्नाम-महिमा

(श्रीरामानुजजी शास्त्री)

भगवान्‌के नामका उच्चारण किसी पुण्य-कर्मके प्रभावसे अथवा भगवत्कृपासे होता है। सत्संगसे भी भगवन्नामोंके उच्चारणमें प्रवृत्ति होती है, पर वह सत्संग भी पुण्यपुञ्जके बिना अथवा भगवत्कृपाके बिना नहीं मिलता। यथा—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

(रा०च०मा०१।३।७)

वेद-शास्त्र तथा इतिहास-पुराणोंमें भगवन्नामकी महिमा भरी पड़ी है। एक जगह तो ऐसा कहा गया है कि—

सुलभं भगवन्नाम जिह्वा च वशवर्तिनी।
तथापि नरकं याति किमाश्चर्यमतः परम्॥

जिस जिह्वासे भगवन्नामका उच्चारण करना है वह जिह्वा भी सर्वथा अपने वशमें रहनेवाली है और भगवान्‌का नाम भी सर्वथा सुलभ है। उसके लिये कोई आयास-प्रयास, कोई धन खर्च करना नहीं पड़ता, तथापि संसारके लोग नरकमें जाते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या होगा? भगवन्नामके उच्चारण तथा भगवन्नाम-जपसे जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर तथा कल्प-कल्पान्तरके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥

× × ×

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

× × ×

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

(रा०च०मा० २।१९४।८, १।२८।१, १।२४।३)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजकी भगवन्नामोच्चारणमें अत्यन्त निष्ठा थी, उनका कहना था—

तुलसी जाके बदन ते धोखेहुँ निकसत राम।
ताके पगकी पगतरी मेरे तन को चाम॥

इसी प्रकारसे भगवन्नामके नाममें सभीकी निष्ठा होनी चाहिये। हाँ, यह आवश्यक है कि भगवन्नामापराधसे सर्वदा बचकर रहना चाहिये। भगवन्नामके अपराध दस प्रकारके होते हैं—सत्पुरुषोंकी निन्दा, नाम-माहात्म्यको न सुननेवालेको सुनाना, शिव और विष्णुमें भेद-बुद्धि, गुरु, शास्त्र और वेदके वचनोंमें अश्रद्धा, नाममें अर्थवादका भ्रम, नामका आश्रय लेकर पाप करना, विहित धर्मका त्याग करना, दूसरे पुण्यकर्मोंसे नामकी समता करना। नामापराधसे सदा सावधान रहते हुए तथा भगवन्नामके अर्थका अनुसंधान करते हुए एवं नामके अनुरूप ही भगवान्‌के रूपका चिन्तन करते हुए प्रेमपूर्वक भगवन्नामका उच्चारण तथा स्मरणमात्र करनेसे शीघ्र ही सफलता मिलती है और परम मङ्गल होता है, ऐसा अनेकों संतों, महात्माओं एवं महानुभावोंका अनुभव है। शास्त्रोंमें तो ऐसी घोषणा स्थल-स्थलपर की गयी है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

राम भरोसो राम बल राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल माँगत तुलसीदास॥
राम नाम रति राम गति राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसीदास॥

भगवन्नामकी महिमा अपार एवं अनिर्वचनीय है। भगवन्नामका निरन्तर उच्चारण करना ही मनुष्य-जीवनकी सफलता है। भगवन्नामकी महिमासूचक सम्भवतः पचास-साठ वर्षपूर्वकी एक घटना है—

एक बहुत बड़े भजनानन्दी सिद्ध संत अपने किसी शिष्यके यहाँ जा रहे थे। रास्तेमें एक श्मशान पड़ता था। वहाँपर बहुत-से बाजे बज रहे थे। गीत गाये जा रहे थे। महात्माजी 'कोई उत्सव मनाया जा रहा है'—ऐसा अनुमानकर वहाँ गये और उन्होंने देखा कि यहाँ तो सब नर-कंकालके रूपमें इकट्ठे हैं। उनमेंसे एक प्रेतने आकर महात्माजीसे कहा—'आप यहाँसे शीघ्र चले जाइये। हमलोग अपना

उत्सव मना रहे हैं।' महात्माजीने निर्भीक होकर पूछा—'तुमलोग किस उपलक्ष्यमें उत्सव मना रहे हो।' प्रेतने कहा—'महाराज ! आप जिस गाँवमें जा रहे हैं, उसमें एक बहुत बड़ा पापी मरकर हमलोगोंकी जातिमें आनेवाला है। इसीकी प्रसन्नतामें हमलोग उत्सव मना रहे हैं।' ऐसा कहकर प्रेतने पुनः कहा कि अब आप जल्दीसे चले जाइये। अन्यथा ये सब प्रेत मिलकर आपका अनिष्ट कर देंगे। इस बातको सुनकर महात्माजी बड़ी शीघ्रतासे उस गाँवमें अपने शिष्यके यहाँ आये। कुशल-समाचारके उपरान्त महात्माजीने पूछा कि 'क्यों बेटा ! इस गाँवमें कोई मरणासन्न व्यक्ति है?' शिष्यने कहा कि 'हाँ गुरुदेव ! एक बहुत बड़ा पापी, कंजूस मरणासन्न पड़ा हुआ है।' संतने कहा—'उसके यहाँ मुझे शीघ्र ले चलो।' शिष्यने उस व्यक्तिके पास उन्हें पहुँचा दिया। महात्माजी उस मरणासन्न व्यक्तिके सिरकी ओर बैठकर उसके कानके पास जोर-जोरसे श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ करने लगे। पाठ पूरा होते-होते उस व्यक्तिकी मृत्यु हो गयी। महात्माजी लौटकर अपने शिष्यके घर आये। एक दिन रुककर दूसरे दिन अपने आश्रमकी ओर चल पड़े। जब उस श्मशानके समीप आये तो वहाँपर उन्हें रोने-चिल्लानेके शब्द सुनायी दिये। जिज्ञासावश वे श्मशानके समीप खड़े हो गये। इतनेमें जो प्रेत उनसे पहले मिला था, उसी प्रेतने रोते हुए आकर फिर कहा कि 'महाराज ! आपने तो हमलोगोंका अनर्थ ही कर दिया, जो पापी मरकर हमारी जातिमें आनेवाला था, उसे आपने विष्णुसहस्रनामका पाठ सुनाकर मुक्त कर दिया। इसलिये हम सारे प्रेत आज रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं। अतः आप यहाँसे शीघ्र चले जाइये, नहीं तो ये सभी प्रेत आपके ऊपर आक्रमण कर देंगे।'

महात्माजीको भगवन्नाममें दृढ़ निष्ठा थी, इसलिये उनको किसी प्रकारका भय नहीं हुआ। प्रत्युत उनके मनमें बड़ी दया आयी कि इनका भी उद्धार हो जाता तो बहुत अच्छा होता, तथापि उस प्रेतके बार-बार कहनेपर वे भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपने आश्रममें लौट आये। इस प्रत्यक्ष घटनासे उन महात्माजीके हृदयमें भगवन्नामके प्रति और विशेष श्रद्धा हुई तथा वे निरन्तर भजनमें तल्लीन रहने लगे।

यह है भगवन्नामकी महिमा। भगवन्नामकी कभी किसीसे तुलना नहीं हो सकती। तुलाके ऊपर ज्ञान तुलित हो जाता है, सिद्धि तुलित हो जाती है, परंतु भगवत्प्रेम तुलित नहीं होता।
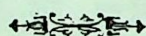
जगदीश, स्वयम्भू निर्विकार

(स्व० श्रीगौरीशंकरजी मिश्र 'द्विजेन्द्र' डी० लिट्०)

जगदीश, स्वयंभू निर्विकार !

है तुम्हें विभो ! शत नमस्कार।
तुम एक मूर्ति, तुम अज भवेश,
ब्रह्मा-हरि-हरका विविध वेश,
धारण कर सर्ग-स्थिति-लयका
बनते हो कारण बार-बार॥
तुम आदिपुरुष, तुम अविज्ञेय,
तुम ज्ञाता, ध्याता, ज्ञेय, ध्येय,
तुम अखिल सृष्टिके हेतु भूत।
पा सका तुम्हारा कौन पार॥

कर सभी सृष्टिको आत्मलीन,
रच कभी उसे तिल-तिल नवीन,
तुम खेल खेलते कामहीन!
दिखलाते मायाका प्रसार!।
घुस कर नीचे पाताललोक
था किया भूमिको ज्यों विशोक,
हो रही सृष्टि यह नष्ट-भ्रष्ट
लो प्रभो ! उसे तुम अब उबार!
जगदीश, स्वयम्भू निर्विकार॥

(प्रेषक—श्रीधरजी मिश्र)

साधकोंके प्रति—
मृत्युके भयसे कैसे बचें ?
(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

संसारके सम्पूर्ण दुःखोंके मूलमें सुखकी इच्छा है। बिना सुखेच्छाके कोई दुःख होता ही नहीं। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—इस इच्छामें ही सम्पूर्ण दुःख हैं। मृत्युके समय जो भयंकर कष्ट होता है, वह भी उसी मनुष्यको होता है, जिसमें जीनेकी इच्छा है; क्योंकि वह जीना चाहता है और मरना पड़ता है ! अगर जीनेकी इच्छा न हो तो मृत्युके समय कोई कष्ट नहीं होता, प्रत्युत जैसे बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा होनेपर अर्थात् बालकपन और जवानी छूटनेपर कोई कष्ट नहीं होता, ऐसे ही शरीर छूटनेपर भी कोई कष्ट नहीं होता। गीतामें आया है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवन जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(२।१३)

'देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही देहान्तरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२।२२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

शरीरमें अध्यास अर्थात् मैंपन और मेरापन होनेसे ही जीनेकी इच्छा और मृत्युका भय होता है। कारण कि शरीर तो नाशवान् है, पर आत्मा अमर (अविनाशी) है और इसका विनाश कोई कर ही नहीं सकता—'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति**' (गीता २।१७), '**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**' (गीता २।२०)।

राम मरे तो मैं मरूँ, नहिं तो मरे बलाय।
अविनाशी का बालका, मरे न मारा जाय ॥

शरीर प्रतिक्षण मरता है, एक क्षण भी टिकता नहीं और आत्मा नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, एक क्षण भी बदलता नहीं। अतः जीनेकी इच्छा और मृत्युका भय न तो शरीरको होता है और न आत्माको ही होता है, प्रत्युत उसको होता है, जिसने स्वयं अविनाशी होते हुए भी नाशवान् शरीरको अपना स्वरूप (मैं और मेरा) मान लिया है। शरीरको अपना स्वरूप मानना अविवेक है, प्रमाद है और प्रमाद ही मृत्यु है—'**प्रमादो वै मृत्युः**' (महा० उद्योग० ४२।४)।

प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही सुख-दुःखका भोक्ता बनता है—'**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।**'(गीता १३।२१)। पुरुष प्रकृतिमें स्थित होता है—अविवेकसे। स्वरूपको शरीर और शरीरको अपना स्वरूप मानना अविवेक है। यह अविवेक ही दुःखका कारण है। तात्पर्य है कि मनुष्य नाशवान्‌को रखना चाहता है और अविनाशीको जानना नहीं चाहता, इस कारण दुःख होता है। अगर वह नाशवान्‌को अपना स्वरूप न समझे और स्वरूपको ठीक जान जाय तो फिर दुःख नहीं होगा।

शरीरमें जितना अधिक मैंपन और मेरापन होता है, मृत्युके समय उतना ही अधिक कष्ट होता है। संसारमें बहुत-से आदमी मरते रहते हैं, पर उनके मरनेका दुःख, कष्ट हमें नहीं होता; क्योंकि उनमें हमारा मैंपन भी नहीं है और मेरापन भी नहीं है।

मृत्युके समय एक पीड़ा होती है और एक दुःख होता है। पीड़ा शरीरमें और दुःख मनमें होता है। जिस मनुष्यमें वैराग्य होता है, उसको पीड़ाका अनुभव तो होता है, पर दुःख नहीं होता । हाँ, देहमें आसक्त मनुष्यको जैसी भयंकर पीड़ाका अनुभव होता है, वैसा अनुभव वैराग्यवान् मनुष्यको नहीं होता। परंतु जिसको बोध और प्रेमकी प्राप्ति हो गयी है, उस तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त तथा भगवत्प्रेमी महापुरुषको पीड़ाका भी अनुभव नहीं होता। जैसे, भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम होनेसे बालिको मृत्युके समय किसी पीड़ा या कष्टका अनुभव नहीं हुआ। जैसे हाथीके गलेमें पड़ी हुई माला टूटकर गिर जाय तो हाथीको उसका पता नहीं लगता, ऐसे ही बालिको शरीर छूटनेका पता नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

(मानस ४। १०)

बोध होनेपर मनुष्यको सच्चिदानन्दरूप तत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है, जिस तत्त्वमें कभी परिवर्तन हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यको एक विलक्षण रसका अनुभव होता है; क्योंकि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है।

बोध और प्रेमकी प्राप्ति होनेपर मृत्युमें भी आनन्दका अनुभव होता है। कारण कि मृत्युके समय तत्त्वज्ञ पुरुष एक शरीरमें आबद्ध न रहकर सर्वव्यापी हो जाता है और भगवत्प्रेमी पुरुष भगवान्के लोकमें, भगवान्की सेवामें पहुँच जाता है।

जिनका शरीरमें मैं-मेरापन नहीं मिटा है, उनको भी मृत्युमें, कष्टमें सुखका अनुभव हो सकता है; जैसे—शूरवीर सैनिकमें वीररसका स्थायीभाव 'उत्साह' रहनेके कारण शरीरमें पीड़ा होनेपर भी उसको दुःख नहीं होता, प्रत्युत अपने कर्तव्यका पालन करनेमें एक सुख होता है। उसमें इतना उत्साह रहता है कि सिर कट जानेपर भी वह शत्रुओंसे लड़ता रहता है। खुदीराम बोसको जब फाँसीका हुक्म हुआ था, तब अपने उद्देश्यकी सिद्धिसे हुई प्रसन्नताके कारण उसके शरीरका वजन बढ़ गया था। स्त्रीको प्रसवके समय बड़ा कष्ट होता है। परंतु पुत्र-मोहके कारण उसको दुःख नहीं होता, प्रत्युत एक सुख होता है, जिसके आगे प्रसवकी पीड़ा भी नगण्य हो जाती है। लोभी आदमीको रुपये खर्च करते समय बड़े कष्टका अनुभव होता है। परंतु जिस काममें अधिक लाभ होनेकी सम्भावना रहती है; उसमें वह अपने पासके रुपये भी लगा देता है और जरूरत पड़नेपर कड़े ब्याजपर लिये गये रुपये भी लगा देता है। लाभकी आशासे रुपये लगानेमें भी उसको दुःख नहीं होता। तपस्वीलोग गर्मियोंमें पञ्चाग्नि तपते हैं तो शरीरको कष्ट होनेपर भी उनको दुःख नहीं होता, प्रत्युत तपस्याका उद्देश्य होनेसे प्रसन्नता होती है। विरक्त पुरुषके पास स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि कुछ नहीं होनेपर भी उसको उनका अभावरूपसे अनुभव नहीं होता। अतः उसको दुःख नहीं होता, प्रत्युत सुखका अनुभव होता है। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े धनी, राजा-महाराजा भी उसके पास जाकर सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं। इस प्रकार जब शरीरमें मैं-मेरापन मिटनेसे पूर्व भी मृत्युमें, कष्टमें सुखका अनुभव हो सकता है, तो फिर जिनका शरीरमें मैं-मेरापन सर्वथा मिट गया है, उनको मृत्युमें दुःख होगा ही कैसे? निर्मम-निरहंकार होनेपर दुःखका भोक्ता ही कोई नहीं रहता, फिर दुःख भोगेगा ही कौन?

अगर भीतरमें कोई इच्छा न हो तो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिसे सुख नहीं होता और अप्राप्ति तथा विनाशसे दुःख नहीं होता। इच्छा होनेसे ही सुख और दुःख—दोनों होते हैं। सुख और दुःख द्वन्द्व हैं, जिनसे मनुष्य संसारमें बँध जाता है। वास्तवमें सुख और दुःख—दोनों एक ही हैं। सुख भी वास्तवमें दुःखका ही नाम है; क्योंकि सुख दुःखका कारण है—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'** (गीता ५। २२)। अगर मनुष्यमें कोई इच्छा न हो तो वह सुख और दुःख—दोनोंसे ऊँचा उठ जाता है और आनन्दको प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्यमें न दिन है, न रात है, प्रत्युत नित्यप्रकाश है, ऐसे ही आनन्दमें न सुख है, न दुःख है, प्रत्युत नित्य आनन्द है। उस आनन्दका एक बार अनुभव होनेपर फिर उसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह स्वतःसिद्ध, नित्य और निर्विकार है।

अगर सब इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव होती तो हम जीनेकी इच्छा पूरी करनेका उद्योग करते और अगर मृत्युसे बचना सम्भव होता तो हम मृत्युसे बचनेका प्रयत्न करते। परंतु यह सबका अनुभव है कि सब इच्छाएँ कभी किसीकी पूरी नहीं होतीं और उत्पन्न होनेवाला कोई भी प्राणी मृत्युसे बच नहीं सकता, फिर जीनेकी इच्छा और मृत्यसे भय करनेसे क्या लाभ? जीनेकी इच्छा करनेसे बार-बार जन्म और मृत्यु होती रहेगी तथा जीनेकी इच्छा भी बनी रहेगी! इसलिये जीते-जी अमर होनेके लिये इच्छाका त्याग करना आवश्यक है।

शरीर 'मैं' नहीं है; क्योंकि शरीर प्रतिक्षण बदलता है, पर हम (स्वयं) वही रहते हैं। अगर हम वही न रहते तो शरीरके बदलनेका ज्ञान किसको होता? बदलनेवालेका ज्ञान न बदलनेवालेको ही होता है। शरीर 'मेरा' भी नहीं है; क्योंकि इसपर हमारा आधिपत्य नहीं चलता अर्थात् इसको हम अपनी

इच्छाके अनुसार रख नहीं सकते, इसमें इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर सकते और इसको सदा अपने साथ नहीं रख सकते। इस प्रकार जब हम शरीरको 'मैं' और 'मेरा' नहीं मानेंगे, तब उसके जीनेकी इच्छा भी नहीं रहेगी। जीनेकी इच्छा न रहनेसे शरीर छूटनेसे पहले ही नित्यसिद्ध अमरताका अनुभव हो जायगा।

असत्‌का भाव (सत्ता) नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (गीता २। १६)। सत् सत् ही है और असत् असत् ही है। अतः न सत्‌का भय है, न असत्‌का भय है। अगर भय रखें तो भी शरीर मरेगा और भय न रखें तो भी शरीर मरेगा। मरेगा वही, जो मरनेवाला है; फिर नयी हानि क्या हुई ? अतः मृत्युसे भयभीत होना व्यर्थ ही है।

जीवन अशान्त क्यों ?

(श्रीदेवीप्रसादजी मस्करा)

यह तो मानना ही पड़ेगा कि आधुनिक सभ्यताने अनेक नवीन सुविधाएँ जन-जीवनमें पैदा कर दी हैं। यातायातके द्रुत साधनोंने संसारको बहुत छोटा कर दिया है। रेलमें हम घरका-सा सुख प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक कार्यके लिये मशीनें बन गयी हैं। विज्ञान शरीर-तत्त्वोंकी खोजमें जुटा है और चिकित्साशास्त्र असम्भव बातोंको भी सम्भव करनेमें लगा है। आज जहाँ नित्य नये-नये आविष्कार हो रहे हैं और विज्ञानने प्रकृतिपर विजय पानेकी घोषणा की है तथा जहाँ आरामकी सब सुविधाएँ हैं, वहाँ यह मानव इतना अशान्त क्यों है ? इतना प्यासा क्यों है ? वह इतना खोया-खोया कैसे है, उसका संतोष एवं सुख बढ़ता क्यों नहीं ? आधुनिक विज्ञान एवं सभ्यताके सामने यह एक जटिल प्रश्न है।

वास्तवमें देखा जाय तो वर्तमान सभ्यताने जीवनको उन्मादसे भर दिया है। आज मानव असहाय-सा, पर अपनी शक्तिके दम्भका प्रदर्शन करता हुआ न जाने कहाँ जा रहा है ? यह उसे पता नहीं है। इस सभ्यताने सबसे बड़ा अकल्याण जो किया है, वह यह कि उसने मनुष्यको बिलकुल अचेत कर दिया है और उसकी असीम दैवी सम्भावनाओंको हर लिया है। आज किसीसे ब्रह्मचर्यकी बातें करो तो वह अविश्वासकी हँसीसे हँस देगा। वेद, पुराण, रामायण, धर्म, भगवान्—संत-महात्माके उपदेशोंकी बातें करो तो वह मुँह बिचका देगा। आखिर ऐसा क्यों ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। मनुष्य जो सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, उसके मुखसे दीनता, दुर्बलता और विवशताके शब्द क्यों ?

दुनियाकी सभी आवश्यक चीजोंको प्राप्त करनेमें आज मानव लगा हुआ है। वह प्रत्येक क्षणका मूल्य रुपयोंमें आँकता है। वह रुपयोंका ही भूखा हो गया है। पर इससे उसकी भूख नहीं मिटती। इस लतने अब उसे दबोच लिया है। अतः काम करते, रुपये कमाते, धन बटोरते वह थक जाता, व्याकुल होता और अन्तमें रोगग्रस्त हो जाता है।

बात यह है कि जीवनके बाहरी चाकचिक्यमें हम अपनेको भूल गये हैं। हमारे अंदर जो दिव्य ईश्वरीय शक्ति है, उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। आजकी सभ्यताने विश्वके संग्रहालयमें, संसारकी प्रदर्शनीमें—मोह-रूपमें सजे मुर्देकी भाँति हमें रख छोड़ा है। सुविधाएँ जरूर बढ़ीं, पर सुख न बढ़ा, जीवन बढ़ा पर शान्ति न बढ़ी। हमारी चिन्ताएँ ज्यादा हो गयीं। मानसिक, नैतिक और शारीरिक शक्तियाँ बरफकी भाँति गल गयी हैं। मानवता दुःख, दम्भ, ईर्ष्या और द्वेषके अन्धकारमें भटक रही है।

प्रत्येक मनुष्यकी यह इच्छा रहती है कि दुःखसे छूटकर सुख प्राप्त करें और इसीके लिये समस्त संसारके मनुष्य रात-दिन प्रयत्न करते हैं। परंतु वास्तविक ज्ञान न होनेसे सुख और दुःखके ठीक-ठीक साधनोंको न जानकर वे दुःखदायक वस्तुओंको सुखदायक समझकर दुःख उठा रहे हैं। ईश्वर, जीव और प्रकृतिके गुण-कर्म और स्वभावका ठीक-ठीक ज्ञान न होनेसे हम मनुष्य-जीवन-जैसे अनमोल रत्नको पशुओंकी भाँति केवल पेट पालनेमें ही खो रहे हैं।

सुख और दुःखका कारण बाह्य परिस्थितियाँ नहीं, प्रत्युत मनुष्यकी मनःस्थिति ही है। भौतिक सुखके लिये बाहर भटकनेवाले मनुष्यकी स्थिति उस चोरकी-सी है जो अपने ही

तकियेके नीचे सुरक्षित पड़े हुए मित्रके मनीबैगको उसके गट्ठरमें ढूँढ़ता है और धोका खा जाता है। हमें शान्ति और आनन्दके अक्षय स्रोतको भीतर ढूँढ़ना चाहिये।

आज सुखको पहचाननेमें जो भूल हो रही है, उससे सुख प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा होनेपर भी हम अतृप्त हैं। हमने सुखको वहाँ समझ रखा है, जहाँ वह नहीं है। हम भूल गये हैं कि आनन्द बाह्य सुविधाओंमें नहीं, अन्तस्तृप्तिमें ही है। भ्रमित कस्तूरी-मृगकी भाँति हम सुखकी सुगंधमें पागल बने उसकी खोजमें फिर रहे हैं, जब कि आनन्द हमारे अंदर ही भरा पड़ा है। हमने उसका मुख ढक रखा है। यदि उसके मुखपरसे ढक्कन हटा दें तो स्रोत निर्बन्ध होकर बह निकले और आनन्दका फौवारा हमारे जीवनको आप्लावित कर दे। इसके लिये थोड़ी सच्ची श्रद्धा, तत्परता, सत्संग, स्वाध्याय आदिकी साधना, विनय और भगवान्‌में भक्तिभावना भी आवश्यक है। परिस्थितियोंपर शान्तिपूर्वक विचार-विमर्श करते रहना, मन एवं इन्द्रियोंके विषयोंके दमनका अभ्यास करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता एवं विशुद्धताके साथ-साथ प्रारब्धसे प्राप्त सामग्रीमें संतोषकी भावना रखनेकी भी इस अन्तर्दृष्टिके लिये नितान्त अपेक्षा होती है, तभी जीवन पूर्ण शान्त एवं सुखमय बन सकता है।

पर्यावरण और आजका भौतिकवाद

(श्रीहरिहरनाथजी चतुर्वेदी)

'पर्यावरणके बढ़ते प्रदूषणकी किस प्रकार रोक-थाम की जाय'—यह समस्त विश्वमें आज चर्चाका विषय है। प्रदूषणके भावी परिणामोंकी भयंकरतासे क्षुब्ध सारा संसार चिन्तित एवं भयभीत है। इससे भारत भी अछूता नहीं है। इसके क़ारण और निवारणपर साथ-साथ विचार कर, अपना सुधारकर भविष्यको उज्ज्वल बनाना प्रत्येक विवेकशील प्राणीका कर्तव्य है।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके उपरान्त भारतीय रहन-सहनमें एक साथ परिवर्तन आया है। इसने हमारी अच्छी-से-अच्छी विचारधाराको भी घिसी-पीटी दकियानूसी करार करके उसे हटानेके प्रत्येक प्रयास किये हैं। अपनी संस्कृतिके प्रति आस्थाके प्रतिकूल प्रकृतिका अतिदोहन, अतिप्रयोग, अतिखननद्वारा खुला दुरुपयोग कर अति विनाश प्रारम्भ कर दिया है। हम अपनी प्रकृतिके अनुकूल अपने पूर्वजोंद्वारा स्थापित आचार-संहिता, जिसमें मानवमात्रके लिये सार्वकालिक शाश्वत सुखकारी संदेश निहित था, उसे हमने भुला दिया। अपने अपनाये नये आचरणद्वारा हमने वनोंके विनाशके साथ न केवल अपनेको ही तबाहीमें झोंक दिया, वरन् वन्य जीवोंका भी अस्तित्व संकटमें डाल दिया। पर्यावरणका शुद्ध होना एवं दूषित रहना मानवीय आचरणपर ही निर्भर करता है।

आज वन-विनाश-लीला अबाध-रूपसे चल रही है और हम शान्त बैठे देख रहे हैं। इसके समाधानके लिये यद्यपि घने सामूहिक वृक्षारोपण करनेका नित्य प्रचार हो रहा है, परंतु अपराधी तत्त्वोंकी बढ़ती स्वच्छन्दतासे उसका प्रभाव नगण्य-सा ही दीखता है। क्योंकि उन्हें इन वनोंसे न कोई लगाव है और न वे इसके दुष्परिणामको ही समझते हैं। जो सघन पेड़ कटते हैं, उनमेंसे एक पेड़की बराबरी नये लगाये गये एक हजार वृक्ष भी नहीं कर पाते हैं। फिर एक बड़ा पेड़ तैयार होनेमें प्रायः चालीस-पचास वर्ष लग जाते हैं।

रुचिके परिवर्तनके साथ अब बड़े आकारके वृक्षोंके स्थानपर छोटे-छोटे कम ऊँचाईवाले पेड़ लगानेकी परम्परा चल पड़ी है। फलस्वरूप वनों-उपवनोंके स्थानपर घास लगे पार्कोंकी परम्परा चल पड़ी है।

पेड़ लगानेके अनेक शाश्वत उद्देश्य हैं—जैसे वातावरणको शुद्ध रखना, पृथ्वीको हरा-भरा रखना, वर्षाको आकर्षित करना, जमीनका कटाव रोकना, बहती नदियोंके नियमित प्रवाहको संतुलित रखना, सड़कके किनारे राहगीरोंको छाया उपलब्ध कराना, पक्षियोंको आवास और प्रजननकी सुरक्षित सुविधा प्रदान करना, सामयिक फलोंकी प्राप्ति, उपयोगी लकड़ी प्राप्त करना, विविध ओषधियों तथा आवश्यक वृक्षोंकी जड़, छाल, पत्ते, फल-फूलोंको सुलभ करना, वन्य जीवोंको संरक्षण, पशुओंको घास उपलब्ध कराना, बढ़ती मरुभूमिको नियन्त्रित करना, धरतीको उर्वरक

बनाना आदि।

छोटे वृक्षोंमें साधारणतया इतनी शक्ति नहीं होती जो उपर्युक्त उद्देश्योंकी पर्याप्त पूर्ति कर सकें। छोटे-बड़े अनन्त सघन वृक्षोंके समूह ही वनोंका सृजन करते हैं। वनोंका संरक्षण इसीलिये सदैवसे आवश्यक रहा है, जहाँ भटकते मानवको शान्ति प्राप्त होती है और चित्तवृत्तिको ऊर्ध्वमुखी होनेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। इसी कारण नदियों, पहाड़ों और वनोंकी रमणीयतामें ही हमारे अधिकांश तीर्थ-स्थान हैं जो हमारे प्राचीन मनीषियोंकी साधनाओंसे जुड़कर आजतक पवित्र, पूज्य और पावन बने हैं। ये वन-उपवन, पर्वत आदि मानवकी प्रकृतिके प्रति सहज श्रद्धाके साक्ष्य हैं। प्रकृतिकी इस अनन्त उदारताको तो प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अनुभव कर आनन्दित हो सकता है।

जीवनकी समस्याओंमें उलझे मानव-मनका वनोंसे लगाव कम हो गया है। इस उपेक्षाके परिणामस्वरूप हम अब संवेदनाशून्य और हृदयहीन-से हो गये हैं, जिसने प्राणिमात्रके अस्तित्वपर ही एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। बढ़ती आपदाओंको देखकर भी यदि हम समय रहते नहीं चेते तो हम अपनी अस्मिता ही खो बैठेंगे।

वन प्रकृतिके उन्मुक्त उपहार हैं। समस्त पर्वत-शृङ्खला वनोंको अपने वक्षःस्थलपर सदैव धारणकर पृथ्वीकी शोभा-वृद्धि करती रही है। उनकी महिमाको सभी ऋषि, मुनियों, विचारकों एवं कवियोंने एक स्वरसे स्वीकारा है। अतीतके प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक और शासनने उनको सम्मानसे संरक्षण प्रदान किया था।

हरे वृक्षोंका संरक्षण एक प्रकारसे धार्मिक कृत्योंका ही अङ्ग था। यह हिंसासे बहुत दूर **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** के आदर्श-स्तम्भपर टिका था, क्योंकि वृक्षोंके ऊपर और नीचे अनेक पशु-पक्षियोंका आवास रहता है। यह उदात्त सिद्धान्त हिन्दुओंके धर्मग्रन्थोंपर आधारित था, परंतु धर्म-निरपेक्षताकी अंधी आँधीने उसे सहसा धराशायी कर निर्मूल कर दिया। धर्म-निरपेक्षताके उपदेश और उनकी शिक्षाने मनुष्यको केवल पशु-तुल्य ही नहीं बना दिया, वरन् समस्त मानवीय गुणोंमें एक पलीता-सा लगा दिया है।

फरनीचरकी उत्तरोत्तर बढ़ती रुचिने हमारी वन-सम्पदाको समूचा ही निगल लिया है। इसलिये सर्वोपरि आवश्यकता है इस रुचिको तुरंत रोकने और बदलनेकी। हमें अपनी संतानोंपर और उनकी शिक्षा-दीक्षापर नये सिरेसे विचार करना है। उनके खर्चीले और भड़कीले रहन-सहनपर अंकुशकी आवश्यकता है, क्योंकि आजका बालक (विद्यार्थी) ही कलका नायक है। उन्हें कुरसीसे मोह त्यागकर जमीनपर बैठाना सिखाना है, सुकुमारताको कम करना है। धरतीसे परहेजको मिटाना है। यह कोई अन्याय नहीं है, वरन् सरल जीवनयापनकी शिक्षा है। पृथ्वीके प्रति श्रद्धाका प्रथम पाठ है।

वन, नदियों और गिरि-कन्दराओंके संसर्गमें आध्यात्मिक भावना, परोपकारकी प्रवृत्ति, वन्य पशु-पक्षियोंके साथ सौहार्दकी भावना और ज्ञान-वैराग्यकी प्रवृत्तिसे भगवत्-साक्षात्कारतक अत्यन्त सुगम हो जाता है। पुष्प, फल, पल्लवोंसे परिपूर्ण वृक्ष, वन-उपवन मनःस्वास्थ्य, शारीरिक कान्ति एवं बलको बढ़ानेमें भी अत्यधिक सहायक होते हैं और वन-सम्पदा भी ओषधि, पशुओंके भोजन, फल, मूल, कन्दसे मनुष्योंके भोजन, बहुमूल्य वृक्षोंसे गृह-निर्माण, कृषि आदिमें अपार सहायता प्राप्त होती है। सघन वन वृष्टिके भी कारक हैं। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे ये वन-उपवन सभी प्राणियोंके लिये उपयोगी हैं। इसलिये इनका संरक्षण सभी प्रकार आवश्यक है। इससे प्रकृति एवं परमेश्वरकी भी प्रसन्नता प्राप्त होगी।

सहायताको सीधे भगवान्से आने दो

दूसरोंकी सहायता करनेकी कामनाके चक्करमें मत पड़ो—तुम स्वयं आन्तरिक साम्यावस्थामें रहते हुए वही करो अथवा बोलो जो उचित हो और सहायताको सीधे भगवान्से ही उनके पास आने दो। एकमात्र भगवत्कृपाको छोड़कर दूसरा कोई वास्तवमें मदद नहीं कर सकता।—श्रीअरविन्द

कहानी—

मानवता और जातीयता

(१)

कई साल पूर्वकी घटना है। मथुरामें होम साहब कलक्टर थे। उनकी मेम (पत्नी) मर चुकी थी। केवल पाँच सालका एक लड़का था—जेम्स। जब साहबका अन्तकाल आया, तब उन्होंने अपने परम मित्र पं० कमलाकिशोर शास्त्रीको बुलाया और अपने लड़केका हाथ उनको पकड़ाकर कहा—'डियर शास्त्री ! अब मैं रामके दरबारमें जा रहा हूँ। मेरे पास केवल साढ़े तीन लाख हैं, सो यह लो। इस लड़केको अपना ही लड़का मानकर खूब पढ़ाना। आई०सी०एस०की परीक्षा जरूर पास करा देना, यही मेरी वसीयत है और यही आपसे अनुरोध।'

(२)

शास्त्रीजीका मकान देहातमें था। आपको जमींदारीसे तीस हजार सालानाका मुनाफा था। आपने जेम्सको अपना ही लड़का माना। दैवयोगसे शास्त्रीजीका घर संतानहीन था। आपने जेम्सका हिन्दू नाम रखा—ललितकिशोर पण्डित। ललितको तीन मास्टर घरपर पढ़ाने लगे। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी शिक्षा चालू हो गयी। जेम्स कभी कुरता-धोती पहनता, तो कभी कमीज-पैंट धारण करता। वह साफ हिन्दी बोलने लगा और हिन्दू लड़कोंके साथ 'आँखमिचौनी' खेलने लगा। वह ललित कहनेपर भी बोलता और जेम्स पुकारनेपर भी। उसके दो नाम पड़ गये। वह पण्डितजीको पिताजी और पण्डितानीजीको 'अम्मा' कहता था। जब ललितने इन्ट्रेंस पास किया तब पण्डितजीका अन्त समय निकट आ गया। उन्होंने अपनी स्त्रीसे कहा—'लो भाई ! मैं तो चला। जय रामजीकी ! रोना-धोना मत। ललितको आई०सी०एस० जरूर पास करा देना। उसे विलायत भेज देना। वहाँ वह बी०ए० करके आई०सी०एस० पढ़ेगा। मेरे मित्र होम साहबकी इच्छा जरूर पूरी करना। फिर चाहे सारी जमींदारी क्यों न बिक जाय। उसे अपना ही पुत्र समझते रहना और जेम्सके नाम जो साढ़े तीन लाख रुपये बैंकमें जमा हैं उन्हें मत छूना।'

(३)

जेम्स विलायत गया। वहाँ वह पाँच सालतक पढ़ता रहा। पहले ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयसे बी०ए० पास किया, फिर आई०सी०एस्०की परीक्षा पास की। उसकी धर्ममाता हजारों रुपये खर्च बराबर भेजती रही। वह उसे पुत्र मानती रही। पुत्रने पाँच सौ रुपये मँगाये तो माताने सात सौ रुपये भेज दिये। मेरा लड़का 'परदेश'में तकलीफ न उठावे। इधर गुमास्ता लोगोंने मुनाफेके रुपयोंको अपना ही मुनाफा समझा। कुछ दिया, कुछका खर्च बता दिया। बाकीका बाकीमें डाल दिया—छुट्टी हुई। गाँवमें तीन जमींदार और भी थे—मिश्रजी, दुबेजी और लालाजी। उन्होंने पाँच सालमें सारी जमींदारी कर्ज दे-देकर रेहन करा ली। बदमाशोंने दो-तीन बार चोरीका बहाना कर शास्त्रीजीके मकानका सारा सामान अपने-अपने घरोंमें मँगवा रखा। बचा केवल मकान और बुढ़िया। उसी समय मि० जेम्स साहब कलक्टर होकर मथुरा आये। आठ दिन मथुरामें रहकर दौरेका हुक्म कर दिया। सबसे पहले आप हरीपुर जा पहुँचे, जहाँ वे ललित बनकर शिशुकालकी ललित क्रीड़ाएँ कर चुके थे। गाँवके बाहर एक बागमें पड़ाव डाला गया। सुबहके समय धोती-कुरता पहन, छड़ी हाथमें लेकर आप अपनी 'अम्मा'के दर्शन करने चले। मकानके भीतर जाकर पुकारा—'अम्मा' !

ललित तू आ गया ? कहती हुई वृद्धा बाहर आयी। माताने लड़केको हृदयसे लगा लिया। प्रेमाश्रुकी वर्षा होने लगी। माता और पुत्र दोनों रो रहे थे। पाँच साल बाद मिलना हुआ था।

(४)

माता—बेटा ! तूने आई०सी०एस्०की परीक्षा पास कर ली ?

जेम्स—हाँ माताजी ! आपकी कृपासे।

माता—आज मैं तुमसे उरिन हो गयी। तेरे पिताजी मरते समय कह गये थे कि ललितको विलायत पास करा देना, फिर चाहे जायदाद रहे या न रहे।

माता बैठ गयी और जेम्स उसकी गोदमें सिर रखकर जमीनपर लेट गया। माता उसके सिरपर हाथ फेरती हुई बोली—'तूने तो पत्रमें लिखा था कि मैंने यहाँ अपना विवाह

भी कर लिया है। सो बहू कहाँ है ?'

ललित—बहू है बँगलेपर। उसने आपको बुलाया है। अब आजसे आपका निवास मथुरामें ही मेरे पास रहेगा। यमुनाजीका रोजाना स्नान कीजिये और द्वारकाधीशजीके दर्शन कीजिये। बस !

माता—'अच्छा बेटा ! बहू यह तो नहीं कहेगी कि मेरा पति अंग्रेज है फिर उसकी माता हिन्दू कैसे हुई ?

ललित—नहीं अम्मा ! मैंने सब हाल समझा दिया है। वह आपकी खूब सेवा करेगी।

माता—तुझे तो भूख लगी होगी।

ललित—हाँ अम्मा ! बड़ी भूख लगी है। आपके हाथकी रोटी पाँच सालसे नहीं खायी। जब मैं खाना खाने बैठता था, तब आपकी याद आती थी।

माता—तुझे कढ़ी और भात बहुत पसंद था। वही बनाऊँ ?

ललित—हाँ, हाँ, हाँ। वही कढ़ी और भात।

वृद्धाने एक हाँडी उठायी और मट्ठा लानेके लिये वह पड़ोसीके घर चली गयी। इधर मौका पाकर साहब उठा और उसने सारा मकान देख डाला। कहीं कुछ नहीं रहा। सब सामान यार लोग खिसका ले गये थे। तलवारें, कुरसियाँ, कपड़े, पलँग कुछ भी न छोड़ा। बदमाशोंने चौका लगा दिया था। साहबको बड़ा सदमा पहुँचा।

(५)

'पाँच साल बाद आज तृप्ति हुई' कहकर जेम्सने भोजन समाप्त किया। फिर यों बातचीत हुई—

जेम्स—माताजी ! जमींदारी तो कायम है ?

माता—नहीं बेटा ! कर्जमें सब चली गयी।

जेम्स—कर्ज क्यों लिया गया ?

माता—न लेती तो तुझे क्या भेजती ?

जेम्स—और मुनाफा ?

माता—कारिंदोंने कहा कि अकाल पड़ गया है, आमदनी वसूल नहीं होती।

जेम्स—आई सी। अच्छा, घरका सामान कहाँ गया ?

माता—तीन बार चोरी हुई थी बेटा !

जेम्स—मेरी वजहसे आप सब तरह बरबाद हो गयी हैं। मेरे कारण आप राजासे फकीर हो गयीं। धिक्कार है मुझे।

माता—नहीं बेटा ! मैंने अपने पतिकी इच्छा, तेरे पिताकी इच्छा और तेरी इच्छाको पूरा किया है। मैं आज तुझे देखकर बहुत सुखी हूँ। जायदादका क्या होता ? सारी रियासत बेचकर मैंने तुझको खरीदा है। तू ही मेरी जायदाद है। मुझे अब क्या चाहिये ? दो मुट्ठी चावल। सो तू देगा ही। अगर न देगा तो चाहे जिस सदाव्रतसे माँग लाया करूँगी।

जेम्स—राम राम ! यह क्या कहती हो 'अम्मा' ?

(६)

पण्डितानीजीको साथ लेकर जेम्स मथुरा चला गया। बँगलेमें एक खास कमरा सजाकर माताजीके लिये रिजर्व करा दिया गया। एक नौकरानी और एक नौकर सेवाके लिये कायम किये गये। माताजीकी रसोईमें जेम्स भी शामिल था। मेम साहबका खाना खानसामा बनाता था। मेम साहबने माताजीको बड़ी ही सुशीलतासे माना। सब लोग आनन्दसे रहने लगे।

इसके बाद कलक्टर साहबने दफा ४२० के वारंट जारी किये। हरीपुरके तीनों जमींदार और पाँचों बदमाश तथा सब कारिंदे गिरफ्तार कर लिये गये। एक महीनेतक सबको चुपचाप हिरासतमें रखा, ताकि कलक्टरकी साध्वी माताको ठगनेका मजा मिल जाय। एक दिन जमींदारोंने साहबके पास संदेश भेजा—'अगर हजूर चाहें तो हमलोगोंका असली रुपया दे दें, ब्याज न दें और सब जमींदारी वापस ले लें। अगर असल रुपया भी न देना चाहें और जमींदारी लेना चाहें तो वह भी मंजूर है। मगर इस 'बेमियादी बुखार'से छुटकारा दीजिये।'

उन बदमाशोंने अर्ज किया—'आपके मकानका सामान केवल इसलिये उठा लिया गया था कि वह नष्ट न हो जाय और जब सरकार आवें तब सौंप दिया जाय। हुकुम दीजिये—सब सामान उसी मकानमें जैसे-का-तैसा सजा दिया जाय। हमलोग आपके पिता शास्त्रीजीके शुभचिन्तक मित्र हैं। लिहाजा चोरीसे बचानेके लिये ही ऐसी हरकत की गयी थी। तोबा करते हैं—माफी दीजिये।'

कारिंदोंने कहा—'जरूर ही पैदावार उन सालोंमें अच्छी न हुई थी। मगर इस साल पैदावार खूब अच्छी है। उम्मीद

है कि बकाया रुपया वसूल हो जायगा। एक सालकी मियाद दी जाय, ताकि हमलोग अपना-अपना हिसाब चुका सकें।'

साहबने सबको छोड़ दिया। रुपया-सैकड़ाके सरकारी सूदके हिसाबसे साहबने सब कर्जदारोंको चुका दिया।

सारी जमींदारी वापस लेकर साहबने वह सब पण्डितानीजीके नाम करा दी। बदमाशोंने सामान वापस कर दिया। कारिंदोंने सारा गबन धीरे-धीरे जमा कर दिया।

इस कहानीसे यह शिक्षा मिली कि—'मानवताके सामने जातीयता तुच्छ है।'
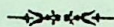
मानवीय शिक्षा—क्यों और कैसे ?

(श्रीपन्नालालजी मुन्धड़ा)

विश्वके सभी धर्मावलम्बियों तथा महापुरुषोंने पशु-पक्षियोंके प्रति करुणा-भाव रखनेका संदेश दिया है। वेद-पुराण, उपनिषदों एवं गीताने भी जैव्य-एकता अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टिमें उस एक ही ब्रह्म-शक्तिका प्रकाश अर्थात् प्राण व्याप्त हैं, इसका संदेश दिया है। भगवान् महावीरने कहा है—'सभी जीवोंको अपने समान समझो, किसीको भी कष्ट न दो।' भगवान् बुद्धने मानव-जातिको अहिंसाका संदेश देते हुए कहा—'जिस प्रकार कोई माँ अपने इकलौते बच्चेको प्यार करती है, उसी प्रकार तुम प्रत्येक जीवके साथ बर्ताव करो।'

कितने आदर्श हैं ये विचार! कितना महान् है यह दर्शन! परंतु खेद है कि मनुष्य महापुरुषोंद्वारा प्रतिपादित इन मूल सिद्धान्तोंको त्यागकर ऐसी जीवनशैली अपना रहा है, जहाँ कि हिंसाका ही बोलबाला है और जहाँ अन्य जीव-जन्तुओंकी पीड़ाके प्रति भी संवेदनशीलता नहीं है।

सभ्यताका जिसे हम 'विकास' कहते हैं, उसके साथ-साथ हमारी मनुष्यता समाप्त-सी होती हुई प्रतीत हो रही है। आजसे हजारों वर्ष-पूर्व यूनान देशके एक महान् दार्शनिक वैज्ञानिक पायथागोरसने जिस अकादमीकी स्थापना की थी, उसका आधार था पशुओंके प्रति प्रेम-भाव। किसी भी विद्यार्थीको जो मांसाहार करता हो, इस अकादमीमें दाखिला नहीं मिलता था, क्योंकि पायथागोरसका यह अटूट विश्वास था कि जबतक हममें प्राणियोंके प्रति करुणाकी भावना नहीं है और जबतक हम मांसाहार करते हैं हमारे मस्तिष्कका विकास असम्भव है।

सैकड़ों वर्ष पहले मगध-देशके पराक्रमी राजा सम्राट् अशोकने कलिंग-युद्धमें जब भीषण नरसंहारकी लीला देखी तो उनके हृदयमें परिवर्तन हुआ। उन्होंने अहिंसाको अपना धर्म बनाया और न केवल मनुष्यमात्रके प्रति बल्कि पशु-पक्षियोंके कल्याण-हेतु जीवन समर्पित करनेका प्रण किया। कितने विमुख हो चुके हैं हम अपने पूर्वजोंद्वारा दिखाये गये पथसे! क्या यही है हमारी सभ्यताका विकास?

आज हम अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियोंका बखान करते नहीं थकते। हम अपनी आर्थिक और औद्योगिक उन्नतिका गुणगान करते नहीं थकते। हम अपनी नयी शिक्षा-नीतिका ढिंढोरा पीटते हैं और हमें गर्व है अपनी बुलंद लोकतान्त्रिक संस्थाओंपर। संसारके किसी देशमें जब कहीं मानवाधिकारोंके हननका विषय प्रकाशमें आता है तो हम 'हाय-हाय' चिल्लाकर उसकी भर्त्सना करते नहीं थकते। परंतु क्या कभी हमने जीव-जन्तुओंके अधिकारोंके बारेमें भी विचारा है, जिनका कि निरापद हनन विश्वके प्रत्येक देशके प्रत्येक कोनेमें निरन्तर होता रहता है। क्या कभी हमने पशुओंके प्रति अपने कर्तव्यों एवं दायित्वोंके बारेमें सोचा है?

पशुओंपर किये गये प्रत्येक अत्याचारका परिणाम मनुष्यकी वर्तमान मानसिक विपदामें दृष्टिगोचर होता है। यह एक मौलिक सत्य है कि जबतक मनुष्य पशुओंके प्रति भ्रातृवत् व्यवहार करना नहीं सीखता उसका कल्याण असम्भव है। जबतक विश्वमें पशुओंका अंधाधुंध वध जारी रहेगा, मनुष्य-जाति युद्ध, अशान्ति और महामारीके दुश्चक्रसे बच नहीं सकती। अतः हमारी बुद्धिमत्ता इसीमें है कि हम इस महासत्यको स्वीकारें और विनाशके कगारपर खड़ी अपनी सृष्टिको सँवारें।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है—हम किस प्रकारकी धरोहर अपनी आनेवाली पीढ़ीके लिये छोड़ जायँगे; क्या हमारा दायित्व नहीं बनता कि हम अपने नन्हे-मुन्ने बच्चोंमें

प्रारम्भसे ही सभी पशु-पक्षियोंके प्रति करुणाकी भावनाका विकास करें और उन्हें यह अनुभव होने दें कि वास्तवमें जीवजन्तु-कल्याणमें ही मनुष्यका निजी कल्याण निहित है।

इस दायित्वको यदि हम गम्भीरतासे निभाना चाहते हैं और इस दिशामें यदि हमें वास्तवमें कोई प्रगति प्राप्त करनी है तो यह आवश्यक हो जाता है कि स्कूल-कॉलेजोंकी पढ़ाईमें मानवीय शिक्षाको एक अभिन्न अङ्गके रूपमें मान्यता प्रदान की जाय। हमारे शिक्षाविदोंको चाहिये कि वे स्कूल और कॉलेजोंके लिये ऐसे पाठ्यक्रमोंका निरूपण करें, जिनमें पशुओंके प्रति मानवीय व्यवहारको समुचित स्थान मिले। शिक्षाशास्त्रके क्षेत्रमें आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, यथार्थवाद और व्यवहारवाद-जैसे न जाने कितने ही सिद्धान्तोंकी व्यापक चर्चा तो प्रायः सुननेमें आती है, परंतु शिक्षाके मानवीय पहलूकी ओर जो कि एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण पक्ष है, शायद ही किसी शिक्षाशास्त्रीका ध्यान जाता हो।

आजके विश्वमें बच्चोंकी शिक्षापर विशेष ध्यान दिया जाता है, परंतु दुर्भाग्यवश शिक्षाका अभिप्राय पाठ्य-पुस्तकोंतक ही सीमित होकर रह गया है। शिक्षाका अर्थ महज भौतिक स्रोतोंका यथासम्भव उपयोग ही माना जाने लगा है। आजके बालक-बालिकाओंको कम्प्यूटर-विज्ञान और अन्तरिक्ष-विज्ञानकी शिक्षा तो बड़े ही उत्साहसे दी जाती है, परंतु मानवीय शिक्षाकी ओर हमारा ध्यान बिलकुल नहीं जाता। वास्तवमें यह मानवीय शिक्षा एक ऐसी शिक्षा है कि जिसके बिना कोई भी शिक्षा अधूरी है।

प्रश्न उठता है कि मानवीय शिक्षा क्या है ? इसका क्या उद्देश्य है ? मानवीय शिक्षासे अभिप्राय है शिशुओंके कोमल हृदयमें प्रेम एवं करुणा-जैसे उदात्त और भव्य भावनाओंका बीजारोपण करना। प्रेम और करुणाके इन सौम्य सिद्धान्तोंपर ही हमारी सुख-शान्ति, सुरक्षा और समृद्धि निर्भर है।

मानवीय शिक्षाको व्यावहारिक रूप प्रदान करनेके लिये आवश्यक है स्कूलकी पढ़ाईमें कोई निश्चित घण्टा केवल इसी विषयके अध्ययनहेतु निर्धारित हो। इस अवधिमें बच्चोंको पशुओंके महत्त्वसे सम्बन्धित ऐसे पाठ पढ़ाये जाने चाहिये, जिनसे उनके मनमें पशुओंके प्रति मानवीय दृष्टिकोणको बल मिले। कहानियों, नाटकों और महापुरुषोंकी जीवनियोंपर आधारित कथाओंके माध्यमसे एक कुशल अध्यापक ऐसी भावनाओंको सहज ही उत्प्रेरित कर सकता है। जो बच्चे पशुओंके प्रति अपने आचरण तथा व्यवहारमें आशातीत रुचि दिखाते हैं, उन्हें प्रोत्साहित करनेके लिये पुरस्कारोंकी व्यवस्था होनी चाहिये।

बच्चे तो स्वाभाविक तौरपर पशु-पक्षियोंसे प्यार करते हैं। दुर्भाग्यवश उस प्यारको रचनात्मक रूपमें व्यक्त करनेके लिये उन्हें शिक्षित नहीं किया जाता है और बड़े होते-होते उनके मनमें जानवरोंके प्रति वही भावना बैठ जाती है जो बड़ोंके मनमें होती है, और उनकी तरह वे भी यही सोचने लगते हैं कि सब जीव-जन्तुओंका सृजन मनुष्यके लाभके लिये हुआ है और इसलिये उन्हें शोषित करनेका अधिकार उसे प्राप्त है। मानवीय शिक्षाके माध्यमसे बच्चोंके मनमें ऐसी अमानवीय प्रवृत्तियोंके जन्मको रोका जा सकता है। मानवीय शिक्षाको यदि स्कूली शिक्षाका अभिन्न अङ्ग स्वीकार कर लिया जाय तो युवा-पीढ़ीके हृदयमें ऐसी भावनाओंका संचार सम्भव है जिससे न केवल वे सब जीव-जन्तुओंके प्रति प्यार बरतें, साथ ही यह भी महसूस करें कि उनके प्रति व्यक्त किया जानेवाला प्रेम एक महान् और अनोखा अनुभव है।

वास्तविक बात तो यह है कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें परमात्मा स्थित है। यही समस्त भारतीय शास्त्रोंका एकमात्र सारभूत सिद्धान्त है। यदि यह भाव किसी प्रकार जम गया तो साक्षात् परमात्मा ही प्रसन्न हो जाते हैं और उसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त होकर वह शान्ति प्राप्त होती है, जो इन्द्र, वरुण तथा कुबेर आदि देवताओंको भी प्राप्त नहीं है। वह पशु-पक्षीसे लेकर देवताओंतकका प्रियतम तथा प्रेमास्पद बन जाता है। वह अपना ही नहीं अपितु समूचे प्राणिमात्रका कल्याण कर देता है और उसके दर्शनसे ही सभी प्राणी परम प्रसन्न हो जाते हैं, जैसे पहले मुनियोंके आश्रमोंमें होता था।

'परमात्मापर विश्वास रखकर अपनी जीवन-डोर उसके चरणोंमें बाँध दो, फिर निर्भयता तो तुम्हारे चरणोंकी दासी बन जायगी।'

साधन और साध्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

करणनिरपेक्ष साधन

(गताङ्क पृ० सं० ७९७ से आगे)

१. एकदेशीय सत्ता और अनन्त सत्ता

साधकको समस्या यह है कि जिसकी सत्ता नहीं है, जो एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, उस संसारका (भोगोंका) तो आकर्षण होता है, पर जिसकी सत्ता है, जो नित्य-निरन्तर विद्यमान है, उस तत्त्वका आकर्षण नहीं होता ! जो 'नहीं' है, उसका असर पड़ता है और जो 'है', उसका असर नहीं पड़ता ! अब इसपर विचार किया जाता है।

वास्तवमें 'नहीं'को 'है' माननेसे ही भोग होता है। संसारको स्थायी माने बिना उसका भोग हो ही नहीं सकता। संसारकी स्थिति वास्तवमें है ही नहीं। उसका प्रतिक्षण ही नाश हो रहा है। नाशके इस क्रम (प्रवाह)को ही स्थिति कह देते हैं। परंतु भोग भोगते समय इस बातका ज्ञान नहीं रहता। सुखभोगकी इच्छा इस ज्ञानको तिरस्कृत (रद्दी) कर देती है अर्थात् सुखभोगकी इच्छा भोगोंको सत्ता दे देती है। अतः भोगोंकी सत्ता नहीं है, नहीं है, नहीं है—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय तो सुखभोगकी इच्छा मिट जायगी अथवा एक परमात्म-तत्त्वकी ही सत्ता है, है, है—ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय तो सुखभोगकी इच्छा मिट जायगी।

'नहीं' निरन्तर 'नहीं'में जा रहा है और 'है' निरन्तर 'है'में रह रहा है। नित्यनिवृत्तकी निरन्तर निवृत्ति हो रही है और नित्यप्राप्तकी निरन्तर प्राप्ति हो रही है। इस वास्तविकताका अनुभव करनेके लिये अहंकार (एकदेशीयपना)को मिटाना बहुत आवश्यक है।

अपनेमें 'मैं हूँ' इस प्रकार जो एकदेशीयपना (अहम्) दीखता है, उसीसे परिच्छिन्नता, विषमता, व्यक्तित्व, अभाव, जड़ता, अशान्ति, कर्तृत्व, भोगेच्छा आदि विकार पैदा होते हैं। यह एकदेशीयपना ही तत्त्वसे भेद, दूरी तथा विमुखता पैदा करता है। जबतक अपनेमें एकदेशीयपना रहता है, तभीतक भोगोंमें आकर्षण रहता है। इस एकदेशीयपने (मैंपन)को मिटानेका उपाय है—अपनेमें परमात्मतत्त्वकी सत्ता ('है')को स्वीकार करना।

अपनेमें अपने सिवा परमात्मतत्त्वकी सत्ता माननेसे क्या द्वैत नहीं आ जायगा ? द्वैत नहीं आयेगा, प्रत्युत द्वैतभावका नाश हो जायगा। कारण कि अपनेमें जो एकदेशीय सत्ता दीखती है, उसमें परमात्मतत्त्वकी अनन्त सत्ताको स्वीकार करनेसे वह एकदेशीय सत्ता मिट जायगी। एकदेशीय सत्ता मिटते ही द्वैतभाव, परिच्छिन्नता, विषमता, व्यक्तित्व आदि विकारोंका नाश हो जायगा। ये सब विकार एकदेशीय सत्तामें ही दीखते हैं।

जिस सत्ताके अन्तर्गत अनेक ब्रह्माण्ड हैं, उस अनन्त सत्तामें और एकदेशीय सत्तामें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। भगवान् कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

(गीता १३ । २)

'हे भारत ! तू सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मेरेको ही समझ।'

तात्पर्य है कि वास्तविक सत्ता दो नहीं है, प्रत्युत एक ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**।' अपरा प्रकृतिके जिस अंशमें सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं, उस अंश अर्थात् 'अहम्'के साथ सम्बन्ध मान लेनेसे सत्तामें भेद दीखने लग जाता है। जिसने अहम्के साथ सम्बन्ध माना है, वह एकदेशीय सत्ता हो जाती है। इस एकदेशीय सत्ताको ही जीव, ईश्वरका अंश, परा प्रकृति, क्षेत्रज्ञ आदि नामोंसे कहते हैं। इस एकदेशीय सत्ताको ही 'मैं हूँ'—इस रूपसे जाना जाता है। यह एकदेशीय सत्ता जिस अनन्त सत्ताका अंश है, उस अनन्त सत्ताको ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् आदि नामोंसे कहते हैं। उस अनन्त सत्ताको भी 'है'-रूपसे जाना जाता है। इस प्रकार अहम्के कारण एक ही सत्ताके दो भेद हो जाते हैं—एकदेशीय सत्ता (जीव) और अनन्त सत्ता (ब्रह्म)।

'मैं हूँ'—यह जड़-चेतनकी ग्रन्थि है। इसमें 'मैं' जड़ (प्रकृति)का अंश है और 'हूँ' चेतन (परमात्मा)का अंश है।

'मैं'-पनकी प्रकृतिके साथ एकता है और 'हूँ'की परमात्मा ('है')के साथ एकता है। 'मैं'-पनके कारण ही 'है' 'हूँ'-रूपसे दीखता है। अगर 'मैं'-पन न रहे तो 'हूँ' 'है'में समा जायगा। सभी 'हूँ' 'है'में समा जाते हैं, पर 'है' 'हूँ'में नहीं समा सकता। वास्तवमें 'हूँ' 'है'में समाया हुआ ही है! उस 'है'में 'मैं'-पन नहीं है। तात्पर्य है कि 'मैं'-पन (अहम्)से ही सत्तामें 'हूँ' और 'है'का भेद होता है। इसलिये सत्ताभेदको मिटानेके लिये 'मैं'-पनका नाश करना आवश्यक है। यह 'मैं'-पन भूलसे माना हुआ है। यह भूल अपनेमें अर्थात् व्यक्तित्वमें है, सत्ता (तत्त्व)में नहीं। इस एक भूलमें ही अनेक भूलें हैं! इस भूलको मिटानेके लिये 'हूँ'को 'है'में मिलाना बहुत आवश्यक है। 'हूँ'को 'है'में मिलानेसे 'मैं' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' (तत्त्व) रह जायगा।

हम मानी हुई एकदेशीय सत्ता 'मैं हूँ'को तो दृढ़तासे अनुभव करते हैं, पर तत्त्वकी अनन्त सत्ताको मानते हैं* इस विपरीतताका कारण अहंकार ही है। अहंकारको मिटानेके लिये एकदेशीय सत्ताको अनन्त सत्तामें मिला दें अर्थात् समर्पित कर दें, जो कि वास्तवमें है। ऐसा करनेसे मानी हुई एकदेशीय सत्ता नहीं रहेगी, प्रत्युत देश-कालादि भावोंसे अतीत अनन्त सत्ता रह जायगी। तात्पर्य है कि अनन्त सत्ताकी मान्यता मान्यता-रूपसे नहीं रहेगी, प्रत्युत पहले जितनी दृढ़तासे एकदेशीय सत्ताका भान होता था, उससे भी अधिक दृढ़तासे अनन्त सत्ताका अनुभव स्वतः होने लगेगा।

एक मार्मिक बात है कि अनन्त सत्ताको एकदेशीय सत्तामें मिलानेकी अपेक्षा एकदेशीय सत्ताको अनन्त सत्तामें मिलाना श्रेष्ठ है। कारण कि एकदेशीय सत्तामें अनादिकालसे माने हुए अहंकारके संस्कार रहते हैं; अतः जब उसमें अनन्त सत्ताकी स्थापना करेंगे, तब वह अहंकार जल्दी नष्ट नहीं होगा। परंतु एकदेशीय सत्ताको अनन्त सत्तामें मिलानेसे अहंकार सर्वथा नहीं रहेगा। कारण कि अनन्त सत्ता मानी हुई नहीं है, प्रत्युत वास्तविक है।

वास्तवमें जीव और ब्रह्मकी एकता करना ही भूल है। जीव और ब्रह्मकी एकता आजतक न कभी हुई है, न होगी और न हो ही सकती है। कारण कि जीवमें ब्रह्मभाव नहीं है और ब्रह्ममें जीवभाव नहीं है। अतः जीव और ब्रह्मकी एकता न करके जीवभाव अर्थात् अहम्(('मैं'-पन)को मिटाना है। अहम्के मिटते ही केवल ब्रह्म रह जाता है। इसीको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९) कहा है। इसीलिये यह कहा गया है कि जीवको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत जीवभाव मिटनेपर ब्रह्मको ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४। ४। ६)

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक० ३। २। ९)

'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः' (गीता ५। २०)

भगवान्ने अहम् मिटनेके बाद ही ब्राह्मी स्थिति होनेकी बात कही है—

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।

(गीता २। ७१-७२)

ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होनेपर फिर कभी अहम्से मोहित (अहंकारविमूढात्मा) होनेकी सम्भावना नहीं रहती।

तात्पर्य है कि वास्तविक सत्ता एक ही है। एकदेशीय, उत्पन्न होनेवाली, व्यावहारिक और प्रातिभासिक (प्रतीत होनेवाली) सत्ता वास्तवमें सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत्ताका आभासमात्र है अर्थात् वह सत्ताकी तरह दीखती है, पर सत्ता नहीं है। वास्तविक सत्ता अनुभवमें आनेवाली वस्तु नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। हम उसको इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि (करण)के द्वारा देखना, अनुभव करना चाहते हैं—यह हमारी भूल है। जो इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे देखा जायगा, वह सत् कैसे होगा? जो सबको देखनेवाला (प्रकाशित करनेवाला) है, उसको कौन देख सकता है? अतः उस वास्तविक सत्ताका अनुभव करना हो तो साधक बाहर-भीतरसे चुप हो जाय, कुछ भी चिन्तन न करे।

* वास्तवमें 'मैं हूँ'—यह एकदेशीय सत्ता हमारी झूठी मान्यता है, अनुभव नहीं—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' (गीता ३। २७)। इस झूठी मान्यताके कारण ही अनन्त सत्ताका (जो कि पहलेसे ही ज्यों-की-त्यों विद्यमान है) अनुभव नहीं होता अर्थात् उसकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जाती। इसलिये 'मैं हूँ' इस झूठी मान्यताको मान्यताके द्वारा ही मिटानेकी बात गीतामें आयी है—'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (५। ८)।

१०. शरणागति

जिसमें विचारकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, ऐसा साधक 'मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है, प्रत्युत मैं परमात्माका हूँ और परमात्मा मेरे हैं'—इस प्रकार संसारसे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख हो जाय अर्थात् परमात्माके शरण हो जाय।

जब साधक अपनेको किसी साधनके योग्य नहीं मानता अर्थात् अपनी शक्तिसे कुछ कर नहीं सकता और परमात्माको प्राप्त किये बिना रह नहीं सकता, तब वह शरणागतिका अधिकारी होता है*। जैसे नींद स्वाभाविक आती है, उसके लिये कोई परिश्रम (अभ्यास) नहीं करना पड़ता, ऐसे ही जब साधक संसारसे निराश हो जाता है और परमात्माकी आशा छूटती नहीं, तब वह स्वाभाविक ही परमात्माके शरण हो जाता है। शरण होनेके लिये उसको कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता। कारण कि शरण होनेमें किसी करणकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत भावकी जरूरत है। भाव स्वयंका होता है, किसी करणका नहीं। जैसे, कन्याका विवाह होता है तो 'अब मैं पतिकी हूँ' ऐसा भाव होते ही उसका माँ-बापसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और पतिके साथ सम्बन्ध हो जाता है। पतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें किस करणकी जरूरत है ? किस अभ्यासकी जरूरत है? अर्थात् किसी भी करणकी, अभ्यासकी जरूरत नहीं है। 'मैं पतिकी हूँ'—यह मान्यता (स्वीकृति) स्वयंकी है, किसी करणकी नहीं†। मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं और स्वयं परमात्माका अंश है। अतः परमात्माके शरण होनेमें मन-बुद्धि आदि किसीकी किंचिन्मात्र भी जरूरत नहीं है, प्रत्युत स्वयंकी जरूरत है। परमात्माके शरण स्वयं होता है, मन-बुद्धि नहीं। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें बोध और भावकी अपेक्षा है, करणकी अपेक्षा नहीं है। जहाँ स्वयंसे काम होता है, वहाँ करणकी अपेक्षा नहीं होती।

एक 'पर'का आश्रय (पराश्रय) है और एक 'स्व'का आश्रय (स्वाश्रय) है। आठ भेदोंवाली अपरा प्रकृति (पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार) अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—तीनों शरीर तथा संसार 'पर' है और इनका आश्रय 'पराश्रय' है। क्रिया और पदार्थका आश्रय स्थूल-शरीरका आश्रय है, मन-बुद्धिका अर्थात् चिन्तन, मनन, ध्यान आदिका आश्रय सूक्ष्म-शरीरका आश्रय है और अहंकारका, स्वभावका एवं समाधिका आश्रय कारण-शरीरका आश्रय है।

स्वरूपका आश्रय भी 'स्वाश्रय' है और परमात्माका आश्रय भी 'स्वाश्रय' है‡। कारण कि 'स्व'के दो अर्थ होते हैं—स्वयं (स्वरूप) और स्वकीय। परमात्मा स्वकीय हैं; क्योंकि उनका हमारे साथ अखण्ड सम्बन्ध है। तात्पर्य है कि जो किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें हमारेसे अलग नहीं हो सकता और हम उससे अलग नहीं हो सकते, वही 'स्वकीय' (अपना) हो सकता है। जो प्रत्येक देश, काल, क्रिया, वस्तु आदिमें निरन्तर

---

* हौं हार्‌यौ करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनयपत्रिका ८९)

† मन-बुद्धिसे जो मान्यता होती है, उसकी विस्मृति हो जाती है, पर स्वयंसे होनेवाली मान्यताकी विस्मृति नहीं होती, उसको याद नहीं रखना पड़ता। जैसे, 'मैं विवाहित हूँ'—यह मान्यता स्वयंसे होती है; अतः याद न रखनेपर भी इसकी कभी भूल नहीं होती। विवाहमें तो नया सम्बन्ध होता है, पर परमात्माका सम्बन्ध अनादिकालसे स्वतः है। जब नये (बनावटी) सम्बन्धकी भी विस्मृति नहीं होती, तो फिर स्वतःसिद्ध सम्बन्धकी विस्मृति हो ही कैसे सकती है ? 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (गीता ४। ३५)।

‡ आश्रय, अवलम्बन, अधीनता, प्रपत्ति और सहारा—ये सभी शब्द 'शरणागति'के पर्याय हैं; परंतु इनमें थोड़ा भेद है; जैसे—पृथ्वीके आधारके बिना हम रह नहीं सकते, ऐसे ही भगवान्‌के आधारके बिना हम रह न सकें—यह भगवान्‌का 'आश्रय' है। हाथकी हड्डी टूट जाय तो डॉक्टरलोग उसपर पट्टी बाँधकर उसको गलेके सहारे लटका देते हैं, ऐसे ही भगवान्‌का सहारा लेने (पकड़ने)का नाम 'अवलम्बन' है। भगवान्‌को मालिक मानकर उनका दास बन जाना 'अधीनता' है। भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना 'प्रपत्ति' है। जलमें डूबते हुएको किसी वृक्ष, शिला आदिका आधार मिल जाय, ऐसे ही संसार-समुद्रमें डूबनेके भयसे भगवान्‌का आधार लेना 'सहारा' है।

हमारेसे अलग हो रहा है, उसका आश्रय (पराश्रय) लेनेके कारण ही स्वकीयका आश्रय (स्वाश्रय) अनुभवमें नहीं आ रहा है।

जीवके बन्धनका मुख्य कारण है—अहंकारका आश्रय (पराश्रय)। अहंकारका आश्रय ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥'** (गीता १३। २१)। अहंकारका संग ही गुणोंका संग है; क्योंकि अहंकार भी सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों गुणोंवाला होता है—**'वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्'** (श्रीमद्भा० ११। २४। ७)। अहंकारका आश्रय लेनेसे जीव अपनेको और अहम्को अलग-अलग नहीं देखता, प्रत्युत एक ही देखता है। अतः उसमें परिच्छिन्नता, व्यक्तित्व, पराधीनता, अभाव, बन्धन, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि दोष आ ही जाते हैं। अहंकारका आश्रय छूटते ही सब दोष निवृत्त हो जाते हैं। अहंकारका आश्रय (पराश्रय) छोड़नेके लिये 'निराश्रय' अथवा 'स्वाश्रय' होना आवश्यक है।

कर्मयोगमें 'निराश्रय' अर्थात् कर्मफलके आश्रयका त्याग होता है—**'अनाश्रितः कर्मफलम्'** (गीता ६। १); **'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।'** (गीता ४। २०)। जो भी उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु है, वह सब 'कर्मफल' है। कर्मफलका आश्रय लेनेसे बार-बार जन्म-मरण होता है और मिलता कुछ नहीं—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)। कारण कि प्रत्येक कर्मका आदि और अन्त होता है, फिर उससे मिलनेवाला फल अविनाशी कैसे हो सकता है? निराश्रय होते ही स्वतःसिद्ध 'स्वाश्रय' (स्वरूपके आश्रय) का अनुभव हो जाता है।

ज्ञानयोगमें 'स्वाश्रय' अर्थात् स्वरूपका आश्रय होता है। स्वरूपके आश्रयसे साधकको मुक्ति प्राप्त होती है। परंतु स्वरूपके आश्रयमें अहंकारका लेश रह सकता है; क्योंकि इसमें मुक्ति (स्वतन्त्रता) का अभिमानी रह जाता है। इसीलिये गीताने **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ) को ऊँचा नहीं माना है, प्रत्युत **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ परमात्मा ही हैं) को ऊँचा माना है; क्योंकि इसमें अहंकार (व्यक्तित्व) सर्वथा नहीं रहता।

भक्तियोगमें 'स्वाश्रय' अर्थात् स्वकीय परमात्माका आश्रय होता है। 'स्व' (स्वरूप) का आश्रय लेनेकी अपेक्षा 'स्वकीय' का आश्रय लेना श्रेष्ठ है; क्योंकि 'स्व' का आश्रय लेनेसे मनुष्य मुक्ति (अखण्डरस) प्राप्त कर सकता है, पर अलौकिक प्रेम (अनन्तरस) प्राप्त नहीं कर सकता*। प्रेमकी प्राप्ति स्वकीय परमात्माका आश्रय लेनेसे ही होती है। प्रेम प्राप्त होनेपर अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है†।

११. चुप-साधन

परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधन है—चुप होना अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करना। यह सर्वोपरि करणनिरपेक्ष साधन है। चिन्तन करनेसे ही संसारका सम्बन्ध चिपकता है। कारण कि चिन्तन करने, वृत्ति लगानेका अर्थ है—नाशवान्, परिवर्तनशील वस्तुको महत्त्व देना। नाशवान्को महत्त्व देना, उसकी आवश्यकता मानना, उसकी सहायता लेना ही तत्त्वप्राप्तिमें मुख्य बाधा है। अविनाशीकी प्राप्ति नाशवान्के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत नाशवान्के त्यागसे होती है। जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? असत्के द्वारा सत्की प्राप्ति कैसे हो सकती है? परिवर्तनशीलके द्वारा अपरिवर्तनशीलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? क्षणभङ्गुरके द्वारा सर्वथा निर्विकार तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? नाशवान्, जड़, असत्, परिवर्तनशील, क्षणभङ्गुरसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तत्त्वकी प्राप्ति स्वतः ही है! इसलिये नाशवान्को महत्त्व देनेका, उसकी सहायता लेनेका भाव साधकको आरम्भसे ही नहीं रखना चाहिये। शास्त्रमें आया है—**'देवो भूत्वा देवं यजेत्'** 'देवता होकर देवताका पूजन करे।' अतः अक्रिय एवं अचिन्त्य होकर ही अक्रिय एवं अचिन्त्य तत्त्वको प्राप्त करना चाहिये।

गीतामें आया है—

---

* भगवान्ने मुक्ति तो पूतनाको भी दे दी थी, पर यशोदाको अपने-आपको ही दे दिया।

† ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ (गीता १८। ५४)

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
(६।१२)

'परमात्मस्वरूपमें मन (बुद्धि) को सम्यक् प्रकारसे स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।'

तात्पर्य है कि सम्पूर्ण देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें एक ही परमात्मतत्त्व 'है' (सत्ता) -रूपसे ज्यों-का-त्यों परिपूर्ण है। देश, काल आदिका तो अभाव है, पर परमात्मतत्त्वका नित्य भाव है। इस प्रकार साधक पहले मन-बुद्धिसे यह निश्चय कर ले कि 'परमात्मतत्त्व है।' फिर इस निश्चयको भी छोड़ दे और चुप हो जाय अर्थात् कुछ भी चिन्तन न करे। न तो संसारका चिन्तन करे, न स्वरूपका चिन्तन करे और न परमात्माका ही चिन्तन करे। कुछ भी चिन्तन करेगा तो संसार आ ही जायगा। कारण कि कुछ भी चिन्तन करनेसे चित्त (करण) साथमें रहेगा। करण साथमें रहेगा तो संसारका त्याग नहीं होगा; क्योंकि करण भी संसार ही है। इसलिये **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (कुछ भी चिन्तन न करे) —इसमें करणसे सम्बन्ध-विच्छेद है; क्योंकि जब करण साथमें नहीं रहेगा, तभी असली ध्यान होगा। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चिन्तन करनेपर भी वृत्ति रहती ही है, वृत्तिका अभाव नहीं होता। परंतु कुछ भी चिन्तन करनेका भाव न रहनेसे वृत्ति स्वतः शान्त हो जाती है। अतः साधकको चिन्तनकी सर्वथा उपेक्षा करनी है।

कुछ भी चिन्तन न करनेके बाद यदि अपने-आप कोई चिन्तन आ जाय तो साधक उससे न राग करे, न द्वेष करे; न उसको अच्छा माने, न बुरा माने और न अपनेमें माने। चिन्तन करना नहीं है, पर चिन्तन हो जाय तो उसका कोई दोष नहीं है। अपने-आप हवा बहती है, सरदी-गरमी आती है, वर्षा होती है तो उसका हमें कोई दोष नहीं लगता। दोष तो करनेका लगता है। अतः चिन्तन हो जाय तो उसकी उपेक्षा रखे, उसके साथ अपनेको मिलाये नहीं अर्थात् ऐसा न माने कि चिन्तन मेरेमें होता है और मेरा होता है। चिन्तन मनमें होता है और मनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

साधकमें चिन्तन न करनेका भी आग्रह नहीं होना चाहिये। उसमें न मन लगानेका आग्रह हो, न मन हटानेका आग्रह हो; न मनको स्थिर करनेका आग्रह हो, न मनकी चञ्चलता मिटानेका आग्रह हो; न किसी वृत्तिको लानेका आग्रह हो, न किसी वृत्तिको हटानेका आग्रह हो; न आँख-कान खोलनेका आग्रह हो, न आँख-कान बंद करनेका आग्रह हो; न कुछ करनेका आग्रह हो, न कुछ नहीं करनेका आग्रह हो—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।'** (गीता ३।१८)। इस प्रकार कोई भी आग्रह न रखकर साधक उदासीन हो जाय तथा चुप हो जाय—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
(गीता १४।२३)

'जो उदासीनकी तरह स्थित है और जो गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—इस भावसे जो अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।'

जैसे नींद लेनेके लिये कोई उद्योग, परिश्रम नहीं करना पड़ता, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक नींद आती है, ऐसे ही चुप होनेके लिये कोई उद्योग नहीं करना है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक चुप, शान्त हो जाना है। साधक दिनमें कई बार, काम करते-करते एक-दो सेकेंडके लिये भी चुप, शान्त हो जाय तो उसको वास्तवमें चुप होना आ जायगा अर्थात् जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद तथा स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव हो जायगा। फिर वह सब कार्य करते हुए भी निरन्तर चुप रहेगा, यही समाधिसे भी ऊँची 'सहजावस्था' है।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

अवस्थाके संस्कारवालोंको समझानेके लिये इसको 'सहजावस्था' कह देते हैं, पर वास्तवमें यह अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थातीत है। कारण कि अवस्था प्रकृतिमें होती है, तत्त्वमें नहीं। वास्तवमें चुप-साधनसे साधक सहजावस्था (सहज समाधि), तत्त्वज्ञान, जीवन्मुक्ति, भगवद्दर्शन आदि जो चाहता है, वही उसको मिल जाता है। चुप होनेसे साधक स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे सुगमतापूर्वक अतीत हो जाता है तथा उसका अहम् अपने-आप मिट जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी योगमार्गका साधक क्यों न हो, चुप-साधन सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी

है। यह चुप-साधन सभी शक्तियोंका खजाना है; क्योंकि सम्पूर्ण शक्तियाँ अक्रिय तत्त्वसे ही पैदा होती हैं और उसीमें लीन होती हैं। इस साधनसे एक विलक्षण शान्ति मिलती है, जिससे राग-द्वेषादि दोषोंको दूर करनेकी सामर्थ्य स्वतः आती है और अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर नहीं पड़ता। इतना ही नहीं, जो लाभ धर्ममेघ समाधिसे भी नहीं होता, वह लाभ चुप-साधनसे हो जाता है। तात्पर्य है कि चुप-साधन सम्पूर्ण साधनोंका अन्तिम साधन है, जिससे पूर्णता हो जाती है अर्थात् **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ परमात्मा ही हैं)—ऐसा अनुभव हो जाता है* ।

शंका—करणनिरपेक्ष साधनका जो विवेचन हुआ है, उसका चिन्तन-मनन करेंगे, तभी तो अपने विवेकका आदर होगा ! चिन्तन-मनन मन-बुद्धि (करण)से ही होता है, फिर यह करणनिरपेक्ष साधन कैसे हुआ ?

समाधान—साधनको 'करणनिरपेक्ष' (विवेकप्रधान) कहा गया है, 'करणरहित' (क्रियारहित) नहीं। करणनिरपेक्ष साधनमें जबतक साधकमें किंचित् भी परिच्छिन्नता है, तबतक वह चिन्तन-मनन करता है, पर उसमें मुख्यता चिन्तन-मनन करनेकी अर्थात् तत्त्वमें मन-बुद्धि लगानेकी न होकर विवेककी ही होती है। अचिन्त्य तत्त्वकी तरफ दृष्टि रहनेसे उसमें विवेकका आदर मुख्य होता है। तात्पर्य है कि इस विवेचनका लक्ष्य चिन्तन- मनन, ध्यान, एकाग्रता, समाधि आदिकी तरफ नहीं है, प्रत्युत चिन्तन-मनन आदिसे अतीत तथा इनको प्रकाशित करनेवाला जो वास्तविक तत्त्व है, उसकी तरफ है।

वास्तवमें विवेकका आदर करनेके लिये चिन्तन-मनन अथवा अभ्यास करनेकी जरूरत ही नहीं है, प्रत्युत गलत मान्यताको मिटाकर वास्तविक बातकी स्वीकृति करनेमात्रकी जरूरत है। अभ्यास करणोंसे होता है और स्वीकृति स्वयंसे होती है। अभ्याससे तत्त्वबोध कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं। कारण कि अभ्याससे एक नयी अवस्था बनती है तथा परिच्छिन्नता और दृढ़ होती है, फिर उससे अवस्थातीत तथा अपरिच्छिन्न तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? तात्पर्य है कि केवल गलत मान्यताका निषेध करना है, अभ्यास नहीं करना है।

करणसापेक्ष साधनमें भी विवेक रहता है और करण-निरपेक्ष साधनमें भी करण रहता है। परंतु करणसापेक्ष साधनमें करण (क्रिया)की प्रधानता रहती है तथा करणनिरपेक्ष साधनमें विवेककी प्रधानता रहती है।

करणसापेक्ष साधनकी महिमा भी विवेकके कारण ही है, करणके कारण नहीं। विवेकके बिना करण अन्धा है। अगर करणके साथ विवेक न हो तो करणसापेक्ष साधन चलेगा ही नहीं। इसीलिये साधनको 'करणरहित' न कहकर 'करण-सापेक्ष' अथवा करणनिरपेक्ष कहा गया है। अगर करणसापेक्ष साधनमेंसे विवेक निकाल दिया जाय तो जड़ता आ जायगी अर्थात् साधन बनेगा ही नहीं और करणनिरपेक्ष साधनमेंसे करण निकाल दिया जाय तो चिन्मयता आ जायगी अर्थात् बोध हो जायगा, साधन सिद्ध हो जायगा। विवेकके बिना करण जड़, पत्थर है और करणके बिना विवेक बोध है। चिन्मयता (बोध)की प्राप्तिमें जड़की मानी हुई सत्ता ही बाधक है।

विवेक आधा सत् और आधा असत् है अर्थात् विवेकमें सत्-असत् दोनों हैं, पर करण पूरा असत् ही है ! विवेकमें सत्-असत् दोनों रहनेसे असत् तो छूट जायगा और सत् रह जायगा। अतः विवेकमें तो ग्राह्य (सत्) और त्याज्य (असत्) दोनों अंश रहते हैं, पर करणमें केवल त्याज्य अंश (असत्) ही रहता है। अतः विवेक तो बोधमें परिणत होता है और करणका सम्बन्ध-विच्छेद होता है, जो कि पहलेसे ही है। तात्पर्य यह हुआ कि विवेकमें जड़के त्यागकी सामर्थ्य है, पर करणमें जड़के त्यागकी सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि करण खुद जड़ ही है।

करणसापेक्ष और करणनिरपेक्ष साधनमें भेद

एक निर्माण होता है और एक अन्वेषण होता है। निर्माण उस वस्तुका होता है, जो पहले न हो तथा कृतिसाध्य हो और अन्वेषण उस वस्तुका होता है, जो पहलेसे ही स्वतःसिद्ध हो। करणसापेक्ष साधनमें अभ्यासके द्वारा एक नयी वस्तुका निर्माण

* 'चुप-साधन'के विषयमें अधिक जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'सहज साधना' पुस्तक देखनी चाहिये।

होता है और करणनिरपेक्ष साधनमें अवस्थातीत तथा नित्यप्राप्त तत्त्वका अन्वेषण होता है—**'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।'** (श्रीमद्भा० १०।१४।२८); **'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'** (गीता १५।४)।

करणसापेक्ष साधनकी मुख्य बात है—मन-बुद्धि (करण)को परमात्मामें लगानेसे ही उनकी प्राप्ति होती है। करण-निरपेक्ष साधनकी मुख्य बात है—नित्यप्राप्त परमात्माकी प्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत करणके त्यागसे स्वतः होती है।

करणसापेक्ष साधनमें बुद्धिकी प्रधानता होती है; अतः उसमें ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, जगत् आदि सब बुद्धिके विषय होते हैं। करणनिरपेक्ष साधनमें विवेककी प्रधानता होती है। करणके उपयोगमें तो विवेककी आवश्यकता है, पर विवेकके उपयोगमें करणकी आवश्यकता नहीं है।

करणसापेक्ष साधनमें करण (बुद्धि)से सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर बोध होता है और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेक ही बोधमें परिणत हो जाता है; क्योंकि विवेक नित्य है और करण अनित्य है।

ज्ञानमयी वृत्तिसे जगत्को ब्रह्ममय देखना अर्थात् वृत्तियोंको लेकर चेतनको देखना करणसापेक्ष साधन है और विवेकके द्वारा वृत्तियोंकी उपेक्षा करके स्वतःसिद्ध स्वरूपमें स्थित होना करणनिरपेक्ष साधन है। जैसे, तुलसीसे बनी मालामें मणियोंके मध्यमें सूतको देखना अर्थात् मणियोंको साथ रखते हुए सूतको देखना करणसापेक्ष साधन है और आरम्भमें मणियोंके मध्यमें सूतको देखकर फिर मणियोंको छोड़ देना अर्थात् केवल सूतको देखना करणनिरपेक्ष साधन है।

मैं, तू, यह और वह—इन चारोंमें 'है' (सत्ता) समान है; परंतु 'मैं'का साथ होनेसे वह 'है' एकदेशीय 'हूँ' बन जाता है। 'मैं'को लेकर 'है'को देखना करणसापेक्ष साधन है। अतः 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह मान्यता (बुद्धिसे होनेके कारण) करणसापेक्ष है और 'मैं नहीं है, ब्रह्म ही है'—यह मान्यता (स्वयंसे होनेके कारण) करणनिरपेक्ष है।

रस्सीमें साँप दीखता है—इसमें रज्जूपहित (रज्जुकी उपाधिवाला) चेतन 'अधिष्ठान' है, साँप 'अध्यस्त' है और रस्सीमें साँपका दीखना 'अध्यास' है। अध्यस्त वस्तुको लेकर अधिष्ठानका ज्ञान करना करणसापेक्ष साधन है और विवेककी प्रधानतासे अध्यस्त वस्तुका बाध (अत्यन्त अभावका अनुभव) करके अधिष्ठान (चेतन तत्त्व)में स्थित होना करणनिरपेक्ष साधन है।

करणसापेक्ष साधनमें अभ्यास मुख्य है और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेकका आदर मुख्य है। अभ्यासमें क्रिया है और विवेक क्रियारहित है।

करणसापेक्ष साधनमें 'क्रिया' (करने)की मुख्यता है और करणनिरपेक्ष साधनमें 'भाव' (मानने) और 'बोध' (जानने)की मुख्यता है।

करणसापेक्ष साधनमें अभ्यास मुख्य होनेके कारण तत्काल सिद्धि नहीं मिलती* और करणनिरपेक्ष साधनमें विवेकका आदर मुख्य होनेके कारण तत्काल सिद्धि मिलती है। कारण कि करणसापेक्ष साधनमें तो एक अवस्था बनती है, पर करणनिरपेक्ष साधनमें अवस्था नहीं बनती, प्रत्युत अवस्थासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है तथा अवस्थातीत स्वतःसिद्ध तत्त्वका अनुभव होता है।

करणसापेक्ष साधनमें मुमुक्षाकी मुख्यता है और करण-निरपेक्ष साधनमें जिज्ञासाकी मुख्यता है। मुमुक्षामें बन्धनसे छूटनेकी इच्छा रहती है और जिज्ञासामें तत्त्वको जाननेकी इच्छा रहती है। अतः मुमुक्षामें बन्धनके दुःखकी प्रधानता है और जिज्ञासामें सत्-असत्के विवेककी प्रधानता है।

मनको भगवान्में लगाना करणसापेक्ष साधन है और संसारके सम्बन्धका निषेध करके 'मैं भगवान्का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार अपने-आपको भगवान्में लगाना करणनिरपेक्ष साधन है।

करणसापेक्ष साधनमें मनको साथ लेकर स्वरूपमें स्थिति होती है—**'यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।'** (गीता ६।१८); अतः मनके साथ सम्बन्ध रहनेसे योगभ्रष्ट होनेकी

* तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः। (योगदर्शन १।१३-१४)

'चित्तकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करना अभ्यास है। वह अभ्यास बहुत समयतक निरन्तर और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर दृढ़ अवस्थावाला होता है।'

सम्भावना रहती है—'**योगाच्चलितमानसः**' (गीता ६ । ३७) । परंतु करणनिरपेक्ष साधनमें मनके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण योगभ्रष्ट (चलितमना) होनेकी सम्भावना रहती ही नहीं। करणनिरपेक्ष साधनमें पहलेसे ही मनके साथ सम्बन्धका त्याग रहता है।

जैसे आरम्भमें कोई साधक सकाम होता है और कोई निष्काम होता है, पर सकाम साधकको अन्तमें निष्काम होनेपर ही तत्त्वका अनुभव होता है। ऐसे ही आरम्भमें कोई करण-सापेक्ष (क्रियाप्रधान) साधन करता है और कोई करणनिरपेक्ष (विवेकप्रधान) साधन करता है, पर करणसापेक्ष साधन करनेवालेको अन्तमें करणनिरपेक्ष होनेपर ही तत्त्वका अनुभव होता है; क्योंकि तत्त्व करणरहित है। दोनोंमें भेद इतना ही है कि करणसापेक्ष साधनमें पराधीनता रहती है, अहम्‌का जल्दी नाश नहीं होता, साधक अन्तकालमें योगभ्रष्ट हो सकता है और तत्त्वकी प्राप्ति देरीसे तथा कठिनतासे होती है। परंतु करणनिरपेक्ष साधनमें स्वतन्त्रता रहती है, अहम्‌का नाश जल्दी होता है, योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती ही नहीं और तत्त्वकी प्राप्ति जल्दी तथा सुगमतासे हो जाती है* । (समाप्त)

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

कब्ज

(डॉ॰ श्रीशरणप्रसादजी)

[गताङ्क॰ पृ॰ सं॰ ७२४ से आगे]

आजकल सबसे अधिक प्रचलित बीमारी 'कब्ज' है। शहरोंमें ९० या ९५ फीसदी लोग इस रोगसे पीड़ित हैं। लोग कब्जके इतने अधिक अभ्यस्त हो गये हैं कि उनको अपने कब्जका तबतक पता नहीं चलता, जबतक उनका रूपान्तर वायु-प्रकोप (फ्लोटुलेंस) या अपच आदि रोगोंमें न हो जाय।

प्रतिदिन एक बार शौच होनेपर लोग मानते हैं कि उनको कब्ज नहीं है और वे अपना आहार-विहार पूर्ववत् चालू रखते हैं। इस अज्ञानताको दूर करनेके लिये पहले यह समझ लेना चाहिये कि कब्ज क्या है ?

ग्रहण किया हुआ भोजन अठारह घंटेमें पूरी तरह पचकर गुदा-द्वारसे बाहर निकल जाना चाहिये अर्थात् १०-१२ बजे दिनमें ग्रहण किया हुआ भोजन दूसरे दिन प्रातः ४-६ बजेतक शौचके रूपमें पाचनतन्त्रसे बाहर हो जगना चाहिये।

स्वस्थ आँतें उपर्युक्त मल-त्यागकी क्रिया भलीभाँति नियमित रूपसे करती हैं, लेकिन अव्यवस्थित तथा अनियमित आहार-विहारके परिणामस्वरूप आँतोंकी स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है। वे दुर्बल हो जाती हैं और अन्न-पाचन एवं मल-विसर्जन दोनों ही कार्योंमें बाधा उत्पन्न होती है। सुस्त एवं कमजोर आँतोंमें ही कब्ज, दर्द, वायु, अपचन आदि लक्षण पैदा होते हैं। उस अवस्थामें पौष्टिक आहार लेनेके बावजूद शरीर दिन-प्रतिदिन दुर्बल होता जाता है। सिरमें दर्द, बेचैनी, मुखका स्वाद बिगड़ना, दुर्गन्धयुक्त निखास, खराब जीभ, कृशता या पेट-वृद्धि आदि लक्षण प्रकट होते हैं। मन एवं शरीर दुर्बल या सुस्त हो जाते हैं।

भूखकी कमी तथा शारीरिक एवं मानसिक सुस्ती कब्जका सबसे पहला लक्षण है, जो इस बातका भी सूचक है कि शरीरमें विजातीय द्रव्योंका संचय होना प्रारम्भ हो गया है। शरीर-विज्ञानकी दृष्टिसे बड़ी आँतोंकी मांसपेशियाँ जब स्वाभाविक आकुञ्चन या संकोचन एवं प्रसरण या संवर्धनके

---

* संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥ (मानस १ । ५८ । ४)

हरीया जाणै सहज कु, सहजां सब कुछ होय।
सहजां सांई पाइयै, सहजां विषिया खोय॥
सहजां मारग सहज का, सहज किया विश्राम।
हरिया जीव'र सीव का, एक नाम अर ठाम॥

['साधन और साध्य' नामकी पुस्तक गीताप्रेससे प्रकाशित हो चुकी है।]

साथ-साथ आँतोंमें होनेवाले हिलोरन या 'पेरिलैस्टिक एक्शन' द्वारा अन्न-रस तथा मलको आगे ढकेलनेमें असमर्थ होती हैं, तभी कब्ज या मलावरोध उत्पन्न होता है। इसके निमित्त कारणों (प्रोडिस्पोजिंग कॉजेज)-मेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

१-शौचकी प्रेरणा (हाजत) को रोकना—जब शौचकी स्वाभाविक प्रेरणा होती है, तब हम उसको टालते हैं यानी तुरंत शौचके लिये नहीं जाते। आधुनिक 'कमोड' आदिपर शौचके लिये बैठनेसे मलाशयपर दबाव कम पड़ता है, इससे भी कब्ज हो सकता है। शौच बैठनेकी उकड़ू पद्धति (Squatting Position) सर्वोत्तम है; क्योंकि इस स्थितिमें दोनों जाँघोंके द्वारा आँतोंको अच्छा आधार मिलता है। कब्जवालोंका मलाशय अत्यधिक मलके कारण फैलकर कुछ बड़ा हो जाता है। स्वाभाविक आकृतिका मलाशय जब मलसे भर जाता है, तब वहाँकी पेशी-तन्त्रिकाओंमें एक प्रकारकी विशिष्ट उत्तेजनाकी अनुभूति होती है, इसीको शौचकी प्रेरणा कहते हैं। कब्जके कारण विस्तृत मलाशयकी तन्त्रिकाएँ शिथिल या मन्द पड़ जाती हैं। वैसे साधारण अवस्थामें भी शौचकी प्रेरणाके समय शौच न जानेसे शौच-प्रेरक तन्त्रिकाएँ कमजोर होने लगती हैं।

इस प्रकार मलसे भरे हुए प्रेरणा-रहित मलाशयको साफ करनेके लिये एनिमा-जैसे साधनोंकी आवश्यकता होती है।

२-अति आहार—अति आहार भी कब्जके महत्त्वपूर्ण कारणोंमें प्रमुख है। ठूँस-ठूँसकर खानेवाले व्यक्तिको कब्ज रहना स्वाभाविक है। क्योंकि पाचन-शक्तिकी अपेक्षा अधिक मात्रामें किये हुए आहारद्वारा आँतोंमें सड़ान पैदा होती है। इस सड़ानसे एक विशिष्ट प्रकारका दूषित रस तैयार होता है, जिसके सम्पर्कसे पाचक रस दुर्बल हो जाते हैं और पाचक रसोंकी प्रक्रिया आहारपर अच्छी तरह नहीं हो पाती। आँतोंका यह स्वभाव है कि आहारको अच्छी तरह पचानेके पश्चात् ही वह उसको आगे, कृमिवत् गतिसे सरकाती है। अपरिपक्व आहार आँतोंमें अधिक देरतक पड़ा रहता है और कब्ज पैदा करता है। अपरिपक्व आहारकी सड़ानसे आमाशय तथा आँतोंमें वायु उत्पन्न होती है, जिससे आमाशय एवं आँतें कभी-कभी फूल जाती हैं। वायुके कारण अधिक तनाव होनेपर आँतोंमें काफी दर्द भी होता है।

अति आहारसे आमाशयकी आकृतिमें वृद्धि होती है, जिससे उसकी पाचन (मन्थन)-क्रियामें बाधा होती है। उपर्युक्त कारणोंसे अति आहारके कारण आमाशय तथा आँतोंमें अन्न सड़ता है, जिससे रक्तमें दूषित द्रव्य संचित होने लगते हैं।

३-असंयम—कब्जका एक सामान्य कारण अति सहवास (स्त्री-प्रसंग) भी है, जिसका उल्लेख प्रायः नहीं किया जाता। इससे जननेन्द्रिय एवं मलाशयमें रुकावट (Congestion) उत्पन्न होती है। इन्द्रिय-संयमके अभावमें किया हुआ इलाज असफल ही सिद्ध होगा, इसमें कोई शंका नहीं है।

चिकित्सा

प्रारम्भमें किसी भी रोगका स्वरूप सौम्य होता है, लेकिन आहार-विहारकी मनचली या शौकीन आदत, असंयम एवं लापरवाहीसे वह रोग क्रमशः पुराना होता जाता है। सुविधाकी दृष्टिसे कब्जको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) सौम्य कब्ज और (२) कठिन या पुराना कब्ज।

१-सौम्य कब्ज

कब्जकी प्रारम्भिक अवस्था—सबकी आँतें सशक्त होती हैं, पर जब गलत आदतोंके कारण आँतोंको अति श्रमसे थका डालते हैं, तब किशोर एवं युवावस्थामें प्रायः सौम्य कब्जकी शिकायत शुरू होती है। उस समय एक-दो दिनका छोटा उपवास, दो-तीन दिनोंका रसाहार या पाँच-सात दिनोंका शुद्धि-आहार करके आँतोंको विश्रान्ति देनेसे वे पुनः सशक्त बन सकती हैं। इस प्रकारके इलाजसे सौम्य कब्जकी बीमारीको एक बार दूर या साफ कर लेनेके बाद पुनः कब्ज न हो, इसके लिये आहार-विहार तथा व्यायाममें संयमित तथा नियमित होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिदिनके आहारमें ताजी साग-सब्जी (सम्भव हो तो फल) की मात्रा कुल आहारके अनुपातमें आधी होनी चाहिये। अन्नकी मात्रासे वह दुगुनी हो तो और भी अच्छा है।

दैनिक जीवनमें कब्ज न होने देनेके लिये एक नियम ध्यानमें रखना चाहिये। जब कभी कब्ज या पेटमें थोड़ा भी भारीपन लगे, तब अन्नकी मात्रा कम करके या बंद करके साग-सब्जी और फलकी मात्रा बढ़ा देनेसे मामूली कब्ज दूर

हो जाता है। इसके अतिरिक्त नियमित रूपसे शक्तिके अनुसार व्यायाम करना कभी न भूलना चाहिये। विशेष परिस्थितियोंमें जब सुबह उठनेपर घूमने या व्यायाम करनेकी प्रेरणा बिलकुल न हो, उस समय आहार भी हलका करना चाहिये। व्यायाम बंद करके पूर्ण या भरपेट आहार लेना कब्जको मोल लेना है।

२-कठिन कब्ज (क्रानिक कॉन्स्टिपेशन)

व्यायाम करनेपर भी दीर्घकालतक अधिक मात्रामें पौष्टिक या गरिष्ठ आहार लेते रहनेसे कठिन कब्जकी बीमारी हो सकती है। वैसे सौम्य कब्जकी अवहेलनाके साथ गलत ढंगके आहार-विहारकी आदतोंको बनाये रखनेसे भी सौम्य कब्जका रूपान्तर जीर्ण कब्जमें हो जाता है। आहारमें साग-सब्जी या फलकी कमी या उनका अभाव, अति आहार, भूखके बिना भोजन करना, अन्नको ठीक तरहसे न चबाना, व्यायाम न करना आदि कब्ज-रोगकी नींवको मजबूत बनानेमें सहायक होते हैं।

प्राकृतिक चिकित्साद्वारा १५-२० वर्ष पुराने कब्जके रोगी या इससे भी अधिक जीर्ण रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुके हैं और कर रहे हैं। पुराने कब्जके साथ निम्न उपद्रव या लक्षण भी पाये जाते हैं—

१-हमेशा थकानका अनुभव, २-सिर-दर्द, ३-हाथ-पैर ठंडे रहना, ४-आँखोंके सामने अँधेरा आना, ५-आमाशय तथा आँतोंमें वायुका प्रयोग और ६-कभी-कभी हृदयकी धड़कन या घबराहट।

जैसे-जैसे कब्जकी बीमारी पुरानी होती जाती है, वैसे-वैसे उपर्युक्त लक्षण बढ़ते जाते हैं। ऐसे रोगियोंको उपवास या रसाहारपर रखना जरूरी है। इनका इलाज केवल शुद्धि-आहार या अल्पाहारसे करना कठिन है। रोगीकी शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाके अनुसार उपवास, रसाहार, प्रवाही आहार तथा शुद्धि-आहारद्वारा जीर्ण क्षुधाको जाग्रत् करना कब्ज-चिकित्साका मूलमन्त्र है। क्षुधाको जाग्रत् करना कब्ज-चिकित्साकी पहली सीढ़ी है। उसके बाद ताजा शाक-भाजी, फल आदि देकर बड़ी आँतोंको नियमित रूपसे साफ रखना चाहिये। आँतोंको साफ रखनेके लिये गाजर, खापरा (नारियलकी गरी), अमरूद, अंजीर, काली द्राक्षा (मुनक्का) तथा सभी प्रकारकी साग-भाजी (विशेष रूपसे चौलाई, बथुआ आदि) अत्यन्त उपयोगी हैं। बड़ी आँतद्वारा मल-त्यागका कार्य भलीभाँति होने लगे, तभी रोगीको चोकर-युक्त आटेकी रोटी देना उचित है। प्रारम्भमें अन्नकी मात्रा अल्प रखी जाय और क्रमशः बढ़ायी जाय। आहारमें फल या अन्न, किसी भी वस्तुकी मात्रा बढ़ाते समय क्षुधा एवं मलत्यागमें बाधा उत्पन्न न हो, इसकी बराबर सावधानी रखनी चाहिये। कब्जके पुराने रोगियोंको घी, मक्खन, तेल आदि देरसे शुरू करना चाहिये। जल्दबाजी करनेसे कब्जकी पुनः शुरुआत हो सकती है। शक्ति बढ़ानेकी दृष्टिसे दूध, दही, छाछ आदि कम चिकनाईवाले पदार्थोंका प्रयोग करना चाहिये। घी तथा मक्खन अति अल्प परिमाणमें क्षुधा तीव्र होनेपर ही प्रारम्भ करना चाहिये।

कब्जसे पूर्ण छुटकारा पानेके बाद ही कठिन श्रम या पर्याप्त व्यायाम करनेवाले व्यक्तिको दाल (छिलके-सहित) लेना चाहिये। सौम्य शरीरश्रम या कम व्यायाम करनेवाले व्यक्तिके लिये मूँगकी दाल उत्तम है। चनेकी दाल भी अल्प प्रमाणमें ले सकते हैं।

रोग-मुक्तिके बाद आहार-विहार और व्यायाम संयमित तथा नियमित होना जरूरी है, जिससे भविष्यमें कब्जकी बीमारी पुनः न होने पाये। संयम ही चिकित्सा एवं आरोग्यकी कुंजी है। कभी अनजानमें कुछ गलती या असंयम हो जानेपर उसका प्रायश्चित्त उपवास, रसाहार या अल्पाहारद्वारा तुरंत कर लेना हितकर है। इस प्रकारके प्रायश्चित्तका प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें स्थान है। एकादशी तथा धार्मिक उपवास इस दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी हैं। गलती करके प्रायश्चित्तको स्थगित करना या टालना पुनः रोगको प्रस्थापित करने-जैसी बात है।

कब्जसे मुक्ति पानेके सरल नियम

१-शौचकी प्रेरणा होनेपर तुरंत शौच जाना चाहिये। प्रेरणा कम होनेपर भी शौच जानेमें कोई हर्ज नहीं है।

२-शौचकी प्रेरणा या इच्छा न होनेपर भी प्रातःकाल नियमित रूपसे शौचके लिये कम-से-कम पाँच-सात मिनट बैठना चाहिये। इससे आँतोंमें नियमित रूपसे मलत्यागकी अच्छी आदत बनती है।

३-दिनमें पानी भरपूर पीना चाहिये। कम पानी पीनेसे भी कब्ज होता है।

४-कब्ज-कारक पदार्थ—जैसे मिष्टान्न-पक्वान्न आदिका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

५-भूख लगनेपर ही ठीक समयपर मित मात्रामें आहार ग्रहण करना चाहिये और उसमें ताजा साग-भाजी एवं फलोंकी समुचित मात्रा होनी चाहिये।

६-खूब अच्छी तरह चबाते हुए धीरे-धीरे शान्तिसे भोजन करना चाहिये। जल्दी-जल्दी भोजन करनेसे कब्जके अतिरिक्त अन्य बीमारियाँ भी होती हैं।

७-उदरकी पेशियोंको सशक्त बनानेके लिये पश्चिमोत्तान-आसन, भुजंगासन, हलासन, चक्रासन, धनुरासन, सर्वाङ्ग-आसन, सूर्य-नमस्कार, शरीर-संचालन आदि नियमित रूपसे अवश्य करने चाहिये।

८-एनिमा बहुत आवश्यक होनेपर ही लिया जाय। पहले आहार-परिवर्तन, आराम या व्यायामद्वारा कब्ज दूर करनेकी कोशिश की जाय।

सारांश यह कि आहार-विहारको प्राकृतिक नियमोंके अनुसार रखनेकी भरसक चेष्टा की जाय।

ज्ञानका साक्षात्कार

साधारणतः मनुष्यको विचार करनेपर इतना तो सहज ही मालूम होता है कि वह शरीरसे पृथक् है। जैसे वह शरीरसे पृथक् है वैसे ही नेत्र-कर्णादि इन्द्रियोंसे भी पृथक् है। वह अच्छी तरह समझता है कि मैं जीव हूँ तथा शरीर और इन्द्रियाँ मेरे द्वारा धारण की हुई वस्तुएँ हैं। इसीसे तो वह इस प्रकार कहता है कि यह 'मेरा शरीर' है और ये 'मेरी इन्द्रियाँ' हैं। इसी तरह वह मनको भी 'मेरा मन' कहता है और यदि कुछ और सूक्ष्म विचार करे तो मनको भी स्पष्टतया अपनेसे पृथक् समझ सकता है। हम एक ही जगह रहते हैं पर हमारा मन कोसों दूर घूमने चला जाता है। इससे सिद्ध होता है कि एक जगह स्थित रहनेवाले हम जीवसे यह कोसों चक्कर काटनेवाला मन बिलकुल पृथक् है। इस तरह हम शरीर, इन्द्रिय और मनसे पृथक् हैं। विचारवान्‌के लिये यह ज्ञान सहज है। मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन 'मैं' नहीं हूँ, मैं इनको धारण करनेवाला जीव हूँ। इतना ज्ञान तो हो जाता है, परंतु मैं जो जीव हूँ उसका स्वरूप क्या है, इस ज्ञानके लिये अत्यन्त सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है।

जैसे शरीर अनेक हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ और मन भी प्रत्येक शरीरके भिन्न-भिन्न होनेसे अनेक हैं। प्रत्येक शरीरका जीव भिन्न है, इससे जीव भी अनेक सिद्ध होते हैं। जीव अनेक हैं और एकसे दूसरा भिन्न है। यह भिन्नता क्यों है? प्रत्येक जीवके जन्म-मरण, सुख-दुःखादि भोग, काम-क्रोधादि विकार भिन्न-भिन्न होते हैं। ये जन्म-मरण और काम-क्रोधादि संस्कार एक जीवसे दूसरेकी भिन्नता सिद्ध करते हैं। प्रत्येक जीवके संस्कार-समुदाय भिन्न होते हैं। इन संस्कारसमुदायके अतिरिक्त क्या और भी कोई तत्त्व जीवमें होता है? यदि इसका विचार करें तो मालूम होगा। जब काम-क्रोधादि विकार नहीं रहते, तब आनन्दका अनुभव अवश्य होता है। गाढ़ निद्रामें ये विकार नहीं होते तब वहाँ भी आनन्दमात्र रहता है। इस विकाररहित आनन्दभोगकी वृत्तिके अतिरिक्त वहाँ दूसरी सारी वृत्तियाँ लीन रहती हैं। स्वप्नमें साधारण वृत्ति जाग्रत् रहती है। स्वप्नमें वे और वृत्तियाँ लीन नहीं रहतीं, इसीसे वहाँ सुख-दुःखका अनुभव होता है। इससे मालूम हुआ कि जीव 'आनन्द' और 'संस्कारसमुदाय' इन दोनोंके संसर्गसे बना हुआ है।

यह आनन्द सब जीवोंमें एक ही है। एक मनुष्यको जो आनन्द होता है वही आनन्द दूसरेको भी होता है, वही सबको होता है। जीवके इस आनन्दतत्त्वमें भेद नहीं है, भेद है केवल प्रत्येक जीवके संस्कारसमुदायमें। यानी इन संस्कारसमुदायोंके लिये जीव अनेक हैं; जो संस्कारसमुदाय विकारी हैं, वे घटते-बढ़ते हैं इसीसे वे नाशवान् हैं। आनन्दतत्त्व एक समान है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, यह अविकारी है, यह घटता-बढ़ता नहीं है, अविनाशी है। गाढ़ निद्रामें जिस समय अन्तःकरणकी विशेष संस्कारवाली वृत्तियाँ लीन होती हैं, उस समय जो आनन्द होता है वह एक-सा होता है, वह बढ़ता-घटता नहीं है। जागृतिमें जब ये विशेष संस्कारवाली वृत्तियाँ उद्भूत होती हैं, तब इन्हींके कारण आनन्दका कम और अधिक अनुभव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि आनन्दके

न्यूनाधिक अनुभवका कारण संस्कारसमुदाय है। जैसे गाढ़ निद्रामें, वैसे ही यदि जागृतिमें भी एक क्षणके लिये वृत्ति स्थिर हो जाय, विशेष संस्कारवाली वृत्तियाँ यदि जाग्रत् न हों, तब उस समय भी उसी आनन्दका अनुभव होता है। जीवका आनन्दत्व अविनाशी चेतनमय और एक है तथा संस्कारसमुदाय भिन्न-भिन्न हैं और विनाशी हैं। विकारोंसे मुक्त संस्कारसमुदायसे रहित केवल शुद्ध चिदानन्दको 'आत्मा' कहते हैं। आत्माको पूर्वसंस्कारोंके भोगके लिये शरीरकी आवश्यकता हुई। इस शरीरमें संस्कारसमुदायसहित आत्मा या चिदानन्द 'जीव' कहलाता है। विकारी संस्कारसमुदायका यदि पूर्णतया नाश हो जाय तो फिर केवल आनन्द ही रह जाता है।

इन विकारयुक्त संस्कारसमुदायका नाश कैसे हो ? मनुष्य जो कुछ भी क्रिया करता है, उस प्रत्येक क्रियाका हेतु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें केवल सुखकी चाह ही होती है। इसी सुखके लिये अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार राग-द्वेष और काम-क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हैं जो अपने-अपने नये संस्कार उत्पन्न करते हैं। यह सुखकी चाह अपने आनन्द-स्वरूपके ज्ञानके अभावमें बनी रहती है और यही चाह विकार और संस्कारोंको उत्पन्न करती है। जीव वास्तवमें स्वयं आनन्दस्वरूप है अतएव इसे सुखके लिये किसी बाहरी विषयको चाहनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इस चाहका नाश होते ही जीव विकारों और संस्कारोंसे मुक्त होता है तथा सदैव आनन्दस्वरूप बना रहता है।

जीव आनन्दस्वरूप है—यह ज्ञानका एक अङ्ग है और इस ज्ञानके अभावसे ही जीवको सुखकी चाह रहती है तथा उसीसे विकार और संस्कार उत्पन्न होते हैं जो दुःखके हेतु होते हैं—यह ज्ञानका दूसरा अङ्ग है, जो आपको परोक्षतया कहा गया है; जैसे यदि आपने कभी हाथी न देखा हो और उसका वर्णन किया जाय तो आपको उस हाथीका ज्ञान परोक्ष ही रहेगा, परंतु यदि आपको हाथीका पूर्वपरिचय है, तो हाथीका ज्ञान आपको परोक्ष नहीं किंतु अपरोक्ष होगा। जीवका और जीवके आनन्दस्वरूपका आपको परिचय है, आप अपनेको अच्छी तरह जानते हैं, आप अपने आनन्दस्वरूपका अनुभव निद्रा और जागृति दोनों ही अवस्थाओंमें करते रहते हैं। इससे आपको जीवके आनन्दस्वरूपका ज्ञान परोक्ष नहीं रहता, अपरोक्ष ही होता है। अपना स्वरूप आनन्दमय है, ज्ञानके इस अङ्गका साक्षात्कार होता है। अब स्वयं आनन्दस्वरूप होनेसे वह स्वाभाविक ही आनन्दमय रहता है। इसलिये उसको अधिक आनन्दकी चाह करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञानके इस दूसरे अङ्गका साक्षात्कार करना शेष रहा। इसका साक्षात्कार करना इस प्राप्त किये हुए ज्ञानको प्रतिदिनके व्यवहारमें लाना है। यों तो इसमें बहुत-सी कठिनाइयाँ दिखायी देती हैं, परंतु वास्तवमें ये कठिनाइयाँ हैं नहीं जो मालूम होती हैं, उनमेंसे बहुत-सी विवेक और विचारसे दूर हो जाती हैं। कभी-कभी इसमें ऐसे अनुभवी पुरुषोंकी सहायता लेनी पड़ती है जो स्वरूपका साक्षात्कार कर चुके हैं। जो पुरुष भगवान्की शरण लेते हैं, भगवान् उनकी सहायता करते हैं। यदि साक्षात्कार करनेका आपका दृढ़ संकल्प है तो किसी-न-किसी उपायसे कठिनाइयाँ भी अवश्य ही दूर हो जाती हैं। ऐसा करना या न करना आपके हाथकी बात है। यदि आप सचमुच सुखके लिये कुछ करना चाहते हैं तो यह करके देखिये, आपको परम सुखका अनुभव अवश्य होगा।

जिन्होंने ऊपर बताये हुए ज्ञानके दोनों अङ्गोंका अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानका साक्षात्कार किया है वे ही ज्ञानी संत-महात्मा हैं।

दूसरोंकी निन्दा किसी हालतमें न करो

शेखसादी लड़कपनमें अपने पिताके साथ मक्का जा रहे थे। वे जिस दलके साथ जा रहे थे, उसकी प्रथा थी, आधी रातको उठकर प्रार्थना करना। एक आधी रातके समय सादी और उनके पिता उठे, प्रार्थना की। परंतु दूसरे लोगोंको सोते देख सादीने पितासे कहा—'देखिये, ये लोग कितने आलसी हैं, न उठते हैं, न प्रार्थना करते हैं।'

पिताने कड़े शब्दोंमें कहा—'अरे सादी बेटा! तू भी न उठता तो अच्छा होता, जल्दी उठकर दूसरोंकी निन्दा करनेसे तो न उठना ही ठीक था।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्यकी शिक्षा

बात पुरानी है। परम पूजनीय गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकरजीकी पूजनीया माताजीको अचानक पक्षाघातका आक्रमण हुआ। सूचना मिलते ही गुरुजी अपनी माताके पास आये। उनके सखा तथा हितैषीके रूपमें डॉक्टर थट्टे सदा साथमें रहते थे। गुरुजीने उनसे माताजीको देखनेके लिये कहा। डॉक्टर थट्टेने माताजीका निरीक्षण करके बताया—'यह पक्षाघातका प्रकोप है। इसका पूर्ण इलाज सम्भव नहीं है।'

विशेषज्ञ डॉक्टर बुलाये गये और माताजीका उपचार आरम्भ हुआ। गुरुजीका प्रवासी जीवन था। वे सदा ही प्रवास करते रहते थे। उनके स्वीकृत कार्यक्रमका समय हो चुका था, किंतु मातृभक्त गुरुजी माताकी अनुमतिके बिना उनकी रुग्णावस्थामें कैसे प्रवासपर जा सकते थे। वे अनुमति लेनेके लिये माताजीके चरणोंमें उपस्थित हुए। माताजीको प्रणाम करके बड़े ही विनम्र शब्दोंमें उन्होंने पूछा—'माँ कई स्थानोंका कार्यक्रम बन चुका है। आज जानेके लिये तय हुआ था। आपकी अनुमति हो तो चला जाऊँ?'

माँ उस समय विशेष कष्टमें थी। पुत्रके दायित्वकी गरिमाके सम्बन्धमें वह उस क्षण विचार न कर सकी। उसने सहज स्नेहवश कह दिया—'नहीं।'

माँके शब्द गुरुजीके लिये विधि-वाक्य थे। उन्होंने तत्काल मनमें सोच लिया—'माँकी इच्छा भेजनेकी नहीं है तो सब जगह तारद्वारा अपने कार्यक्रम रद्द करनेकी सूचना दे दूँ।' लेकिन तभी मनमें आया—'माँ मेरे निर्धारित कार्यक्रममें विघ्न पड़े इसे कभी पसंद नहीं करती थीं। सम्भव है, कष्टकी अधिकताके कारण इस समय उनका मस्तिष्क विशेष क्रियाशील न हो। कुछ देर बाद फिर माँसे पूछकर देखा जाय।'

यह सोचकर उन्होंने कहीं भी सूचना नहीं दी। कुछ घंटों-बाद ग्यारह बजेके लगभग गुरुजी फिरसे माँके चरणोंमें उपस्थित हुए और उनके सामने अपने कार्यक्रमकी बात रखकर प्रवासपर जानेकी अनुमति माँगी। माँने स्नेहसे गुरुजीकी ओर देखा और मन्दस्मितके साथ कहा—'हाँ, जा बेटा! अपने कर्तव्यका पालन कर।' और कुछ क्षण रुककर आगे कहा—'बेटा! मनुष्यका जीवन-मरण किसीके रहने-न-रहनेपर अवलम्बित नहीं होता। इस समय मेरी सेवासे अधिक भारतमाताकी सेवाकी आवश्यकता है। तुम मेरी चिन्ता न करके दुःखी प्राणियोंका दुःख दूर करनेका प्रयत्न करो।' गुरुजीकी आँखें गीली हो आयीं। मातृस्नेहसे अभिभूत हो वे मातृचरणोंका स्पर्शकर अपने कर्तव्यपथकी ओर चल पड़े।

—गोपालदास नागर

(२)

गोमाताकी असीम कृपा

कभी-कभी जीवनमें ऐसी घटनाएँ होती हैं जो प्रत्यक्ष चमत्कार-रूपमें दिखायी पड़ती हैं।

सन् १९७४ के सितम्बर माहके प्रथम सप्ताहकी बात है। सोन नदीमें भयंकर बाढ़ आयी थी। एक दिन छिट-फुट बारिश हो रही थी। लगभग चार बजे शामको बारिश समाप्त-सी हो गयी। मौसम खुल गया था। पिताजीने सोचा कि सोन नदीकी बाढ़ देख ली जाय। चूँकि मेरा गाँव सोन नदीके किनारे ही पड़ता है। अतः पिताजी एक शिक्षक तथा गाँवके एक सज्जनके साथ सोन नदीके तटपर पहुँच गये। वे लोग कुछ देरतक दूरसे ही बाढ़की उत्ताल तरंगें देखते रहे। बादमें बैठकर बाढ़का आनन्द लेनेका विचार करने लगे। वहाँ नदीका कगार पानीसे लगभग सौ फुट ऊँचा है। उन लोगोंने जहाँ बैठनेका विचार किया था, वहाँ कहींसे अचानक एक गाय आ गयी और उस जगहपर घास चरते-चरते उसने गोबर कर दिया। पिताजी साथियोंसे कहने लगे कि यही जगह तो बैठने लायक थी, पर गायकी इच्छा है कि हम यहाँ न बैठें। चलो, दूसरी जगह बैठा जाय। वे दूसरी जगह जाने लगे और वह गाय भी अन्यत्र चली गयी। साथियोंके साथ पिताजी ज्यों ही दस कदम चले होंगे कि पूर्व-निर्धारित बैठनेवाली कगारकी जगह पंद्रह फुटकी जमीन बाढ़की वजहसे नदीमें जा गिरी। यह देख सभी भौंचक्के रह गये और बार-बार गोमाताकी कृपा

मानने लगे। प्रभुका विधान विचित्र है। यदि कहीं गोमाता उस जगह गोबर न करती तो निश्चित ही तीनों व्यक्ति कालकवलित हो जाते। धन्य है गोमाताकी कृपा!—रमेशप्रसादजी द्विवेदी

(३)

भगवान्‌के दूत

आजके इस स्वार्थपूर्ण युगमें परोपकारकी भावनाका दिनोंदिन लोप होता जा रहा है। पर ऐसे कुसमयमें भी कहीं-कहीं देवता-स्वरूप मानवके दर्शन हो जाते हैं। मुझे भी एक ऐसे ही महान् व्यक्तिके दर्शन कुछ दिनों पूर्व हुए।

घटना २२ नवम्बर, १९९१ ई० की है। मेरी पत्नी तथा दो बच्चे (लड़की ग्यारह वर्ष, लड़का ग्यारह माह) पत्नीकी ममेरी बहन, उसके पति और दो बच्चे (लड़का पंद्रह वर्ष, लड़की तेरह वर्ष) कानपुरसे लखनऊ फियेट गाड़ीसे जा रहे थे। साथमें मेरा एक कर्मचारी भी था। कुल आठों व्यक्ति विवाहोत्सवमें भाग लेने लखनऊ जा रहे थे। गाड़ी मेरी पत्नीके जीजाजी चला रहे थे। मोटर अभी कानपुरसे नौ-दस किलोमीटरकी दूरीतक पहुँची ही थी कि सामनेसे आती हुई एक ट्रकने बैलगाड़ीसे आगे निकल जानेके उपक्रममें गाड़ीको बहुत बुरी तरहसे धक्का मार दिया। ट्रक गाड़ीको सामनेसे कुचलती हुई करीब-करीब आधी गाड़ीपर चढ़ गयी। आठों प्राणी बुरी तरह घायल हो गये। मेरी पत्नीके सिर तथा चेहरेसे काफी रक्त बहने लगा। पत्नीकी बहनकी हड्डियाँ टूट गयीं। ग्यारह माहके दुधमुँहे बच्चेके भी मस्तकपर चोटें आयीं। सभीको काफी चोटें आयीं। बड़ा ही भयानक दृश्य था। सड़कपर भीड़ तो इकट्ठी हो गयी, पर कोई भी सहायताके लिये आगे नहीं आया। करीब दस-पंद्रह मिनट बाद एक जिप्सी मारुति कानपुरसे लखनऊ आ रही थी, उसे ड्राइवर चला रहा था। उसके मालिक श्रीमहेशकुमारजी बगलमें बैठे थे। दुर्घटनाग्रस्त गाड़ी देखकर इन लोगोंने अपनी जिप्सी रोकी तथा आठों घायलोंको उठा-उठाकर अपनी गाड़ीमें बिठाया। मेरी पत्नीके सिरसे रक्त निरन्तर बह रहा था। जिप्सीको वे सीधे कानपुरके एक नर्सिंग होममें लाये। वहाँसे किसीने मुझे टेलीफोनद्वारा सूचना दी। नर्सिंग होमके डॉक्टरने उन्हें पहले सरकारी अस्पताल जानेको कहा। वे लोग घायलोंको सरकारी अस्पताल ले गये, जहाँ सभीका थोड़ा-बहुत उपचार हुआ। तत्पश्चात् उन्हें उसी नर्सिंग होममें वापस लाये और वहाँ सभीका यथोचित उपचार आरम्भ हुआ।

इस तरह उन परोपकारी महानुभावोंके अथक प्रयाससे सभीके प्राण बच गये, अन्यथा यदि समयपर श्रीमहेशकुमारजी तथा उनके ड्राइवर श्रीरामप्रवेशकी सहायता न मिलती तो अत्यधिक रक्त निकल जानेके कारण न जाने क्या अनर्थ हो जाता। गाड़ीकी अवस्था देखकर तो सभीको आश्चर्य हो रहा था कि इसमें बैठे लोग कैसे बच गये! भगवान्‌की असीम कृपासे ही गाड़ीकी अगली सीट नीचेसे टूटकर पीछेकी ओर झुक गयी, जिससे अगली सीटपर बैठी मेरी पत्नी, ममेरी बहन तथा उसके पति पीछेकी ओर गिर गये और बच गये। श्रीमहेशकुमारजी तथा श्रीरामप्रवेशजीसे मैंने पुरस्कार-स्वरूप कुछ लेनेका बहुत आग्रह किया, किंतु उन्होंने कुछ भी ग्रहण नहीं किया और कहा—'यह तो हमारा कर्तव्य था।' बादमें भी वे लोग कई बार घायलोंको देखने अस्पताल आये।

भगवत्कृपा और उन सज्जन मनुष्योंकी परोपकारकी भावनाने अनर्थ होनेसे बचा लिया। वे लोग भगवान्‌के दूत बनकर ही सहायताके लिये आये थे। इस प्रकारके कर्तव्यपरायण और निःस्वार्थ सेवाभावी मनुष्योंसे ही भूतल स्वर्ग बनता है और यही सच्चा मानवधर्म है।

—अशोक झाझरिया

(४)

स्वामि-भक्त बैल

आजसे सात-आठ वर्षपूर्व गोपालपुर, जिला रायगढ़में दो भाइयोंमें जमीन-जायदादको लेकर विवाद चल पड़ा। धीरे-धीरे शत्रुता बढ़ती गयी। एक भाईके तीन जवान बेटे थे, दूसरेको एक लड़की एवं एक छोटा-सा नन्हा बच्चा था। तीनों जवान बेटे एवं उसके पिता मिलकर पहले भाईके वंश-नाश करनेपर उतर आये। तलवार, छुरी, बरछा आदि लेकर एक दिन संध्याके समय वे उसके घरमें घुसकर उसपर वार करने लगे। उनमेंसे एक बच्चेको खादके गड्ढेमें गाड़ देनेके विचारसे लेकर भाग खड़ा हुआ। बच्चेको ले जाते एवं स्वयंपर आक्रमण होते देख वह दूसरे भाईसे मददके लिये गुहार करने लगा। हो-हल्ला सुनकर दो बैल दहाड़ते हुए रस्सोंको तोड़कर दौड़-दौड़कर आततायियोंको मारने लगे। पहला बैल मारता

और खदेड़ता तथा दूसरा सींगोंसे वार करता। दूसरे बैलपर लाठी पड़ती देख पहला दौड़कर वापस आता और उसपर वार करता। इस तरह उन दोनों बैलोंने उन्हें मार भगाया। जैसे गाय अपने बछड़ेकी रखवाली करती है, ठीक उसी प्रकार उस बच्चेको अपना बच्चा मानकर बैल रखवाली करता रहा। दूसरा बैल दुश्मनोंमेंसे बापको सींगोंसे मारता रहा, क्षणभरमें बात चारों ओर फैल गयी, लोगोंकी भीड़ जमा हो गयी। सभीने बैलोंकी भूरि-भूरि सराहना की। यह क्या सेवाके बिना सम्भव है? कभी भी नहीं। यह भाई गाय-बैलोंकी खूब सेवा करता था। यह उसका नित्यका नियम था। इसी सेवाके बलपर आज उसके परिवारकी रक्षा हो पायी। वास्तवमें वृषभ-(बैल) को धर्मका रूप माना गया है। **'वृषो हि साक्षाद् धर्मः।'** धर्मकी रक्षा तथा उसके पालनसे वही धर्म संकटके समय उसकी रक्षा करता है। **'धर्मो रक्षति रक्षितः।'**

—डॉ० श्रीलक्ष्मणप्रसादजी नायक

(५)

भगवान्‌की कृपा

बात ई० सन् १९७७-७८ की है, उस समय मेरे पति गोसाईंगंजमें एग्रो विभागमें कार्यरत थे। मेरे बड़े बेटेने जो उस समय पाँच-छः वर्षका था, खेल-खेलमें सरकारी तिजोरीकी चाबी कहीं फेंक दी। बड़ी खोज-बीन की गयी, लेकिन चाबी नहीं मिली। इसी बीच मेरे पतिका स्थानान्तरण गोसाईंगंजसे फ़ैजाबाद हो गया। इससे हमलोग और अधिक परेशान हो गये। यदि तिजोरी तुड़वायी जाती तो उसका पूरा पैसा विभागको भुगतान करना पड़ता। मेरे पतिकी स्थिति तो बड़ी दयनीय थी, अन्तमें एक मित्रके सलाहपर फैजाबादसे चाबी-मास्टर बुलवाया गया जो चाबी बनानेमें निपुण था। तीन दिनोंतक उसने बहुत प्रयत्न किया, लेकिन ताला खुला नहीं। एक दिनकी मजदूरी उन दिनों तीस रुपये थी, तबादला हो जानेकी वजहसे कुछ आर्थिक परेशानी भी थी। बड़ी विषम परिस्थिति थी। मेरे पति दिनभर न कुछ खाते न पीते, इसी चिन्तामें डूबे रहते।

अन्तमें चारों ओरसे निराश होकर मैंने भगवान् शंकरकी शरण ली। बचपनसे ही अपने पिताके द्वारा मिले संस्कारोंके कारण मैं ईश्वरीय शक्तिमें विश्वास करती हूँ। प्रतिदिन मैं भगवान् शंकरकी विधिवत् पूजा करती हूँ। अब उनकी प्रतिमाके पास जाकर मैं फूट-फूटकर रोने लगी और मैंने कहा—'भगवन्! किसी पापका दण्ड मेरे पति भोग रहे हैं, उनका दुःख अब मुझसे सहन नहीं हो रहा है। हे दयानिधान! चाहे मुझे कितना ही कष्ट भुगतना पड़े, आप उनके पापोंका दण्ड मुझे दें, उनका दुःख दूर कर दें। रातमें भी मैं चारपाईपर रोती रही और प्रार्थना करती रही। न जाने कब मुझे नींद आ गयी। मैंने स्वप्न देखा कि एक व्यक्ति आया और उसने तिजोरीको अपनी अँगुलियोंसे छू दिया, छूते ही तिजोरी खुल गयी। सुबह मैंने अपने पतिसे सपनेकी बात बतायी और विश्वासपूर्वक कहा कि मैकेनिकसे कहिये कि एक बार और प्रयत्न करे, आज तिजोरी खुलकर ही रहेगी। ऐसा ही हुआ। पहली चाबी बनाकर लगाते ही तिजोरी खुल गयी। सभीकी खुशीका ठिकाना नहीं था। भगवत्कृपासे मेरी बीमारी भी ठीक हो गयी। उसके बाद तो भगवत्-शक्तिमें मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया। भगवान् कितने दयालु हैं, कृपालु हैं, उनकी दयालुता और कृपालुताकी कोई सीमा ही नहीं है। फिर भी मनुष्य नालीके कीड़ेकी भाँति सांसारिक सुखोंमें ही सुख अनुभव करता है। बस, एक बार उनके सामने रोनेभरकी देर है, फिर तो प्रभु दयाकी सरिता बहा देंगे। यदि रोना ही है तो प्रभुके सामने रोये। माँगना है तो भगवान्‌से माँगे, आन्तरिक दुःखोंको प्रकट करना ही है तो भगवान्‌के सामने प्रकट करे, फिर तो करुणा-वरुणालय प्रभु दुःखोंकी निवृत्ति अवश्य करेंगे। गोस्वामीजीने सच ही कहा है—

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

—सुधा पाण्डेय

'सदा अपने हृदयको देखते रहो, कहीं उसमें काम, क्रोध, वैर, ईर्ष्या, घृणा, हिंसा, मान और मदरूपी शत्रु घर न कर लें, इनमेंसे जिस किसीको भी देखो, तुरंत मारकर भगा दो। पर देखना बड़ी बारीक नजरसे सचेत होकर, ये चुपकेसे अंदर आकर छिप जाते हैं और मौका देखकर अपना विकराल रूप दिखलाते हैं।'

मनन करने योग्य

शान्ति

एक विद्वान्‌से पूछा गया—'आपने शान्ति प्राप्त की है?' उन्होंने अपने मस्तकपर हाथ फेरकर कहा—'शान्ति ! वह तो मुझसे बहुत दूर है।'

एक धनवान्‌से पूछा गया—'क्या आपने शान्ति पा ली है?' उन्होंने अपने मनीबैगकी ओर देखकर कहा—'शान्ति ! शान्ति तो मुझे स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं है।'

एक बलवान्‌से जब यही प्रश्न किया गया तो उसने उत्तर दिया—'मैं नहीं जानता कि शान्ति किसे कहते हैं?'

अतः विद्वान्, धनवान् एवं बलवान्‌के पास शान्ति नहीं है।

एक विद्यार्थीसे पूछा गया तो उसने स्कूलकी ओर मुख करके कहा—'शान्ति नहीं अशान्ति प्राप्त है।'

एक किसानने खेतकी ओर देखकर कहा—'मैंने तो शान्तिका नामतक नहीं सुना।'

एक मजदूरसे पूछा गया, उसने कुदालपर हाथ रखकर कहा—'शान्तिको मैं नहीं जानता।'

एक नेतासे पूछा गया, उसने जोशमें आकर कहा—'शान्ति तो मुर्दोंकी चीज है, हम शान्ति नहीं चाहते।'

तात्पर्य यह कि विद्यार्थी, किसान, मजदूर और नेता—सभी शान्तिसे दूर हैं। सारा संसार अशान्ति, दुःख और शोककी ज्वालामें जल रहा है।

न स्त्रीको शान्ति, न पुरुषको शान्ति।
न जनताको शान्ति, न सरकारको शान्ति।
न पशुको शान्ति, न पक्षीको शान्ति।
न पृथ्वीको शान्ति, न पवनको शान्ति।
न सूर्यको शान्ति, न चन्द्रको शान्ति।
सारा ब्रह्माण्ड अशान्तिके चक्करमें घूम रहा है।

सो जानेपर भी, स्वप्नोंके कारण शान्ति नहीं है। साधुओं, योगियों तथा त्यागियोंसे पूछा गया तो वे भी अपनेको शान्तिसे पृथक् बतलाते हैं।

लेखक, कवि और सम्पादकोंसे पूछा गया तो वे भी शान्तिहीन पाये गये। अखिल सृष्टि अशान्तिके चाकपर बैठी घूम रही है। फिर भी, शान्ति कभी-कभी अपनी सुन्दर झलक दिखला जाती है।

सागरके हृदयमें कहीं-कहीं सुनसान स्थल पाये जाते हैं। वहाँ आँधी या तूफान या जहाजकी हलचल प्रवेश नहीं कर पाती। कच्छ-मच्छ-मगर आदि जीव भी वहाँ नहीं पहुँच पाते।

मनुष्यके हृदयसागरमें भी—बहुत दूर—एक सुनसान स्थान है। उस सुनसान स्थलपर पहुँचने तथा वहाँ विवेकपूर्ण जीवन बितानेका नाम शान्ति है। बाह्य जगत्‌में अशान्तिका राज्य है, परंतु अन्तर्जगत्‌में एक जगह ऐसी है जहाँ शान्ति ही शान्ति विराजमान है।

अशान्त सागर प्रशान्त महासागरके मध्यमें घूम रहा है। अशान्तिसे शान्ति अनन्तगुना बड़ी है। परमात्मारूप शान्तिमें जगत्-रूप अशान्ति ऐसे है जैसे तालाबके बीचमें एक जलका बुलबुला।

यही कारण है कि अशान्तिके भीतर भी शान्तिकी झलक मारा करती है। यदि शान्तिकी सत्ता न होती तो क्षणभरमें जगत् अशान्तिकी ज्वालासे जलकर भस्म हो जाता। अशान्तिकी आत्मा शान्ति है। यही कारण है कि हम प्रत्येक दुःख, शोक, परिवर्तन और कष्टके समय भी विचार करनेपर हृदयमें शान्ति पाते हैं। जीवात्मा इस दुरंगी दुनियामें उपस्थित है। वह बाह्य जगत्‌की अशान्तिमें भी उपस्थित है और अन्तर्जगत्‌की शान्तिमें भी सम्मिलित है।

रोते हुएसे कहा जाता है—'शान्त हो जाओ।' और वह चुप हो जाता है।

तड़पते हुएसे कहा जाता है—'शान्त हो।' और वह धीरज पाता है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

कहनेसे क्षणभरके लिये हमें शान्तिका वातावरण घेर लेता है। फलतः शान्ति कोई कल्पित वस्तु नहीं प्रत्युत सत्ताधारी चीज है।

शान्ति माताके दो बच्चे हैं—(१) प्रेम और (२) आनन्द। दोनों बच्चोंके सिरपर हाथ रखे शान्ति माता बैठी रहती है। शान्ति माताके महत्त्वके फाटकपर दो प्रहरी पहरा दिया करते हैं। उनके नाम हैं—एकता और समता।

हमारी वह शान्ति माता परमात्मारूपी महासागरमें रहती है। परमात्मामें शान्ति है—शान्तिके मध्यमें अशान्ति है और अशान्तिके मध्यमें फिर शान्ति है। अतः वस्तुतः सर्वत्र शान्तिका ही राज्य है, जैसे सरोवरमें सर्वत्र जल।

जो शान्ति इन्द्रियसुख, सामाजिक सुख और भौतिक विजयद्वारा प्राप्त होती है, वह क्षणिक होती है, वह परीक्षा और संकटके समय नष्ट हो जाती है। जो शान्ति आत्मज्ञानसे प्राप्त होती है, वह नित्य है। वह विपत्तिमें भी स्थिर रहती है। जिस शान्तिका सम्बन्ध ईश्वरसे है, वह नित्य है और जिस शान्तिका सम्बन्ध जगत्से है, वह अनित्य है।

नित्य शान्तिका अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने स्वार्थका मुँह काला कर दिया है और हर समय पवित्र प्रेमके सागरमें डूबा बैठा रहता है।

इन्द्रिय-निग्रह करता हुआ भक्त जब पवित्रताके साथ भगवान्की ओर बढ़ता है, तब वह नित्य शान्ति प्राप्त करता है।

स्वार्थ तथा वासनाको त्यागकर काम और क्रोधकी जड़ काट डालो। बस, शान्तिका सागर सामने लहराता नजर आयेगा।

यदि आप उस प्रकाशकी खोजमें हैं कि जो कभी मंद नहीं होता, यदि आप उस आनन्दकी तलाशमें हैं कि जो कभी समाप्त नहीं होता और यदि आप उस शान्तिके प्रेमी हैं कि जो कभी नीरस नहीं होती, तो इन्द्रिय-दमनद्वारा अपने मनको जीत लीजिये।

मनको वशमें करनेका उपाय यह है कि अपने प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्यको ईश्वरीय शक्तिके अधीन कर देना कि जो आत्माके नामसे नित्य-निरन्तर आपके हृदयमें मौजूद है।

बिना मनको जीते न शान्ति है, न प्रेम है और न आनन्द है। न मुक्ति है, न मोक्ष है और न ईश्वर-प्राप्ति।

इसीलिये कविने कहा है—

मनके जीते जीत है मनके हारे हार।

आपकी सारी प्रार्थनाएँ निष्फल हैं, आपकी सारी प्रजा व्यर्थ है और आपका सारा स्वाध्याय बेकार है, यदि आप मनको जीतनेका प्रयत्न नहीं कर रहे हैं।

आपके सब पाप, सब दुःख, सब संकट और सब विपत्ति—आपके ही पैदा किये हुए हैं। चाहे आप इनसे चिपटे रहें, चाहे अलग हो जायँ। आप ही अपनेको अशान्तिकी आगमें झोंकते हैं और आप ही अपनेको शान्तिके सलिलमें नहलाते हैं। कहा है—

भूल न जाना इस नुस्खेको लाभ अनेक उठाओगे।
जैसा मनको बना सकोगे वैसे ही बन जाओगे॥

कोई गुरु, जगद्गुरु या सद्गुरु शिक्षा देनेके अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता। चलना तो आपको ही पड़ेगा। गुरुके चलनेसे आपकी मंजिल तय न होगी। कहा गया है—

एक पेड़ दो पक्षी बैठे, एक गुरू एक चेला।
अपनी करनी गुरू उतर गये, अपनी करनी चेला॥

प्रातः और शामको जो संध्या करनेका विधान बनाया गया है, वह इसीलिये कि आप थोड़ी देरके लिये, सारी सांसारिकताको छोड़कर—हृदय-सागरकी सबसे अधिक सुनसान गुफामें जा घुसें। जहाँ कोई भी स्वार्थमय विचार आपको न दबा सके। जहाँ एकता, पवित्रता तथा शान्तिका राज्य हो। जहाँ पूर्ण सुख, पूर्णानन्दका सागर लहराता हो। यदि आप ऐसा किया करेंगे तो आपका ज्ञान-नेत्र खुल जायगा। तब सत्य प्रकट हो जायगा और तभी आप प्रत्येक पदार्थको उसके असली रूपमें देख सकेंगे।

वह पवित्र शान्ति, आपके अजर-अमर-अविनाशी आत्माकी गोदमें रहती है।

भूल-सुधार—'योग-तत्त्वाङ्क' वर्ष ६५वेंके पृष्ठ २४९ पर स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परमहंसका चित्र दिया गया है, जो नामकी साम्यताके कारण भ्रमवश दूसरा छप गया है। पाठकोंके सूचनार्थ यह निवेदन है।
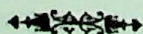
॥ श्रीहरिः ॥

(भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

'कल्याण'

—के ६५वें वर्ष (वि० सं० २०४८, सन् १९९१ ई०) के दूसरे अङ्कसे बारहवें अङ्कतकके

निबन्धों, कविताओं और संकलित सामग्रियोंकी वार्षिक विषय-सूची

(विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है।)

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

संकलित सामग्री

मराठी भाषा-भाषियोंके लिये विशेषरूपसे उपलब्ध

श्रीमद्भगवद्गीतापर दो अनूठे ग्रन्थरत्नोंका मराठी-अनुवाद

साधक-संजीवनी टीका

(स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

सुन्दर छपाई, सुपाठ्य, आकर्षक जिल्द, रंगीन चित्र-सहित

परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजानी गीतेची टीका दार्शनीक विचाराच्या किंवा आपली विद्वत्ता प्रदर्शित करण्याच्या दृष्टिने लिहिली नाही; परंतु साधकाचे हित कसे ह्यावे—ह्याच दृष्टिने लिहिली आहे. परम शान्तीचे इच्छुक प्रत्येक साधक कोणत्याही देश, वेश, भाषा, मत, साम्प्रदायाचा जरी असेल त्याकरिता ही टीका संजीवनी बूटी-प्रमाणे आहे. ह्या टीकेचे अध्ययन करणारे हिन्दू, बौद्ध, जैनी, फारसी, ईसाई, मुसल्मान इत्यादि सर्व धार्मिक अनुयायांना आपापल्या मतानुसार उद्धारांचे सुगम उपाय मिळतील. आपल्या उद्धाराची पूर्णरूपेण सामग्री मिळेल. परम शान्तीच्या इच्छुक सर्व बन्धु भगिनीना आमची विनम्र विनंती आहे—कि ही टीका आपल्या घरी अवश्य ठेवावी, मनोयोगपूर्वक अध्ययन करावे, रहस्याना समजण्याचा पूर्ण प्रयत्न करून गीतेच्या अनुसार आपले जीवन बनवावे. हा ग्रंथ मात्र साठ रुपयात उपलब्ध आहे. डाकखर्च १६.००(सोळा रुपये) अतिरिक्त आहे।

गीता-दर्पण

श्रीमद्भगवद्गीतेवर-अनुभवपूर्ण, गीताप्रेमी साधकांकरिता परम उपादेय, नवीन सरळ शोध ग्रन्थ

ह्या गीता-दर्पण ग्रंथात अनेकानेक दृष्टिने विचार केला आहे. प्रत्येक विचाराच्या पाठीमागे स्वामीजीनी आपल्या अनुभवाप्रमाणे गीतेचेच प्रमाणपुट देवून साधनांची खोज केली आहे.

ह्या गीता-दर्पण ग्रंथाच्या माध्यमाने गीतेचे अध्ययन केल्यावर साधकाला गीतेचे मनन करण्याची, तीला समजण्याची एक नवीन दिशा मिळेल. नवीन विधी मिळतील. ज्यामूळे साधक स्वतः सुद्धा स्वतंत्ररूपाने गीतेवर विचार करून नवनवीन विलक्षण भाव प्राप्त करू शकेल. परमानन्द सागरात डुबक्या मारल्याने त्याची गीता वक्त्याप्रती एक विशेष श्रद्धा जागृत होईल कि ह्या एवढया लहान ग्रंथात भगवंतानी कित्ती विलक्षण भाव भरले आहेत. असा श्रद्धा भाव जागृत झाल्याने गीता ! गीता !! उच्चारण करनेमात्रने त्याचे कल्याण होवून जाईल.

असादुर्मिळ ग्रंथ मात्र बीस रुपयात उपलब्ध आहे. डाकखर्च १०.५० (दहा रुपये पन्नास पैसे) अतिरिक्त। गीताप्रेमी साधकानी, पुस्तक विक्रेत्यानी गीताप्रेस गोरखपुरशी सम्पर्क साधावा.

(मराठीके अतिरिक्त 'गीता-माधुर्य' अब आठ अन्य भाषाओं—हिन्दी, अँग्रेजी, नेपाली, गुजराती, बँगला, तमिल, कन्नड और उर्दूमें भी उपलब्ध है।)

गीताप्रेस-चित्रकथाका तीसरा भाग—'मोहन'

धारावाहिक 'कन्हैया' एवं 'गोपाल'की उल्लेखनीय सफलताके बाद अगले क्रममें एक और सुन्दर आकर्षक रंगीन चित्रकथा—'मोहन' प्रकाशित हो चुकी है।

चित्रकथाके इस अङ्कमें भगवान् श्रीकृष्णकी रसमयी कैशोर लीलाओंका बड़ा ही मनोहारी सचित्र वर्णन है। इनमें मनमोहनकी भोजन-लीला, ब्रह्माजीका मोहभङ्ग, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण, रासलीला तथा राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा आदि लीला-प्रसङ्ग विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। मूल्य ५.०० (पाँच रुपये) मात्र, डाकखर्च ७.५० अतिरिक्त।

चित्रकथाका चौथा भाग—**'श्रीकृष्ण'** शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी चित्र-प्रकाशन-योजना

भगवदविग्रहोंके सुन्दर आकर्षक बहुरंगे चित्र (१८''×२३''की) बड़ी साइजमें छपने आरम्भ हो गये हैं। चित्र-विक्रेतागण कृपया सम्पर्क स्थापित करें।

पंजीकृत-संख्या जी०—आर०—१३

Our Two Publications in English

Srimad Bhagavad Gita (TATTVA VIVECANĪ) — Sri Jayadayal Goyandka

With Sanskrit Text, English translation and detailed commentary. Pages 736, Tri-colour pictures 4, attractive multi coloured pictorial & gleaming dominant title, Price Rs. 25·00, Postage Rs. 14·00 extra.

Sri Ramacharitmanasa—

With original Hindi Text & English translation, Pages 864, Tri-colour pictures 2, with cloth Binding, Price Rs. 45·00, Postage Rs. 14·50 extra.

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

'कल्याण'का आगामी (जनवरी १९९२ ई०का) विशेषाङ्क

'संक्षिप्त भविष्यपुराणाङ्क'

भारतकी सर्वोत्कृष्ट निधि 'पुराण' अनन्त ज्ञान-राशिके अक्षय भण्डार हैं। शास्त्रोंमें इनकी बड़ी महिमा है। पुराणोंकी लोकप्रियता एवं बहुत समयसे 'कल्याण'के कृपालु पाठकोंके कोई पुराण प्रकाशित करनेके प्रेमानुरोधको ध्यानमें रखकर इस बार जनवरी १९९२ ई०के विशेषाङ्कके रूपमें **'संक्षिप्त भविष्यपुराणाङ्क'** प्रकाशित करनेका निर्णय लिया गया; जिसकी सूचना 'कल्याण'के पूर्व साधारण अङ्कोंमें दी जा चुकी है। गत अङ्कोंमें मनीआर्डर-फार्म भी संलग्न करके भेजा गया था। जिन सज्जनोंने इस विशेषाङ्ककी शुल्कराशि ५५.०० न भेजी हो तो वे यथाशीघ्र भेजनेकी कृपा करें।

'भविष्यपुराण'में धर्म, सदाचार, नीति, भक्ति, उपासना, सदुपदेश, व्रत, तीर्थ, दान तथा ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, कर्मकाण्ड, आयुर्वेदादि शास्त्रोंके विषयों एवं इतिहास आदिका अद्भुत संग्रह है। इस महापुराणकी कथाएँ अत्यन्त रोचक एवं प्रभावोत्पादक हैं। लोकव्यवहार तथा शास्त्रज्ञानकी बातें भी इसमें निरूपित रहेंगी। प्रसङ्गानुसार अनेक भावपूर्ण बहुरंगे, इकरंगे एवं रेखा-चित्र भी इसमें रहेंगे।

'कल्याण'के पिछले वर्षोंके कुछ प्राप्य विशेषाङ्क

मत्स्यपुराण (पूर्वार्ध) सानुवाद—'कल्याण' वर्ष ५८ (सन् १९८४ ई०)में प्रकाशित इस अङ्कमें मत्स्यावतारकी मुख्य कथाके अतिरिक्त विविध साधनों, महान् उपदेशों और उच्च कोटिके आदर्श चरित्रोंका वर्णन है। पृष्ठ-संख्या ४६८, बहुरंगे चित्र १०, सरल हिन्दी अनुवादके साथ मूल्य डाकखर्चसहित २४.०० रु०।

देवताङ्क—'कल्याण' वर्ष ६४वें (सन् १९९० ई०)में प्रकाशित यह विशेषाङ्क देव-संस्कृति और देवता-विषयक खोजपूर्ण तथा महत्त्वकी सामग्रीसे युक्त, अनेक वैदिक तथा पौराणिक रोचक एवं शिक्षाप्रद कथाओंका संग्रह है। पृष्ठ-संख्या ४०८, बहुरंगे चित्र ९, सादे चित्र १२, रेखाचित्र ६, सुन्दर आकर्षक बहुरंगा आवरण। मूल्य डाकखर्चसहित ४४.०० रु०।

'योगतत्त्वाङ्क'—'कल्याण' वर्ष ६५ (सन् १९९१ ई०)में प्रकाशित इस अङ्कमें योग-विषयक सभी बातोंका सविस्तार तात्त्विक विवेचन है। पृष्ठ-संख्या ४०८, बहुरंगे चित्र ९ एवं अनेक सादे चित्रोंसे युक्त, बहुरंगे आकर्षक आवरणसे सुसज्जित है। मूल्य डाकखर्चसहित ५५.०० रु०।

'कल्याण'के ग्राहकोंसे एक आवश्यक अनुरोध

'कल्याण'के सभी ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे प्रत्येक पत्राचारमें और मनीआर्डर आदि भेजते समय भी अपनी ग्राहक-संख्याका उल्लेख कृपया अवश्य करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५